स्तुतिकुसुमाञ्जलि का आलोचनात्मक अध्ययन

उमाकान्त चतुर्वेदी

प्रभु श्रीसदाशिव की भक्ति के अजस्र-प्रवाह से आप्लावित "स्तुतिकुसुमाञ्जलि" काश्मीरक महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट का महनीय स्तोत्रकाव्य है। इसमें भक्त कवि ने काव्य की भूमिका में भारतीयदर्शन, विशेषकर शैवदर्शन के सिद्धान्तों का रहस्योद्घाटन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ **"स्तुतिकुसुमाञ्जलि का आलोचनात्मक अध्ययन"** उपर्युक्त स्तोत्र-काव्य के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन एवं परिशीलन का प्रतिफलन है। इसमें स्तुति-कुसुमाञ्जलि के बहिरङ्ग पक्ष-इतिहास, पुराण, भाषा, आदि तथा अन्तरङ्ग पक्ष-रस, अलङ्कार आदि काव्य मूल्यों एवं भारतीयदर्शन के सूक्ष्म विवेचन का विश्लेषणात्मक चिन्तन किया गया है। विशेषकर भक्ति के आचार्यों द्वारा रसराज के रूप में स्वीकृत भक्तिरस का यथार्थ के धरातल पर परीक्षण करके स्थापित करने की सफल चेष्टा की गयी है।

श्री मु० भ० वे० वे० महाविद्यालय, अस्सी, वाराणसी के पुस्तकालय को सादर समर्पित

[illegible]
30/5/10

स्तुतिकुसुमाञ्जलि का आलोचनात्मक अध्ययन

लेखक

उमाकान्त चतुर्वेदी

राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र

जयपुर

ISBN : 978-81-88741-26-7

प्रकाशक : राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र
222, सरस्वती सदन, बिहारी जी की गली,
सौंखियों का रास्ता, किशनपोल बाजार,
जयपुर-302001

संस्करण : 2009

मूल्य : 300.00 रुपये मात्र

टाईप सैटिंग : कुशल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

विषय-सूची

पूर्विका

कुलशैलदलं पूर्णं सुवर्णगिरिकर्णिकम्।
नमोऽधितिष्ठतेऽनन्तनालं कमलविष्टरम्।।

विश्वात्मा एवं विश्वोत्तीर्ण रूप में विद्यमान चिदात्मक श्रीसदाशिव की महिमा अवर्णनीय है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' विभु के ऐश्वर्य की व्याख्या के रूप में निगम-आगम एवं पुराण आदि शास्त्र लिखे गये हैं, फिर भी उसे इदमित्थं कहना असम्भव है।

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट विरचित श्रेष्ठ स्तोत्र-काव्य है। श्रीजगद्धरभट्ट ने कविभूमि कश्मीर में चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आविर्भूत होकर वहाँ की गौरवमयी मर्यादा को आदर्श प्रदान किया। इनकी रचना 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' संस्कृत वाङ्मय का आदरणीय स्तोत्र-काव्य है। इसमें इन्होंने आशुतोष भगवान् शिव की स्तुतिगीत गायी है। अड़तीस स्तोत्रात्मक इस स्तुति काव्य में कवि ने शिव के विविध चरित्रों, लीलाओं एवं पौराणिक आख्यानों का निर्देश करते हुए भक्ति रस की अजस्र-धारा प्रवाहित की है, जिस भक्ति की पीयूषधारा में भक्तहृदय सहज में ही डुबकी लगाने लगता है। शैवागम के सिद्धान्तानुसार शिवाद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के साथ-साथ अन्य भारतीय दर्शनों की विवेचना भी इसमें पूर्णरूपेण उपलब्ध है। बीच-बीच में स्तुति के द्वारा काव्य के लक्षंण का भी संकेत किया गया है, जिसमें काव्य के लिए दोष-राहित्य, गुण, रीति, अलङ्कार, सत्कथावस्तु एवं छन्दों के सुष्ठु प्रयोग से परिलसित वाक्य समूह को आवश्यक बतलाया है।

इस प्रकार 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' श्रीसदाशिव की भक्तिभावना से समन्वित भक्त की वेदना से विगलित एक पावनतम गीत है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीय साहित्याचार्य-परीक्षा के पाठ्य-पुस्तकों में निर्धारित 'पंचमस्तोत्र' पर्यन्त स्तुतिकुसुमाञ्जलि को पढ़कर मेरा हृदय श्रीसदाशिव आशुतोष की महिमामण्डित पद्य-पुष्पों की पवित्र गन्ध से पुलकित और उल्लसित हो उठा था। सोचा था, काश इसी स्तोत्र-काव्य पर शोध करने का अवसर मिलता तो मैं धन्य हो जाता। पर, मुझमें आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त एम.ए. करने की प्रवृत्ति अंकुरित हुई और मैंने

संस्कृत-विभाग, कला संकाय में प्रवेश ले लिया। बीच-बीच में मेरी यह इच्छा वल्लरी खिलती रही, पर निराशा के तुषारपात ने उसे समाप्त-प्राय ही कर दिया था।

किन्तु, 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो पुनि मिलहि न कछु सन्देहू।।' गोस्वामी जी की इस चौपायी के अनुसार सर्वान्तर्यामी भूतभावन श्रीसदाशिव की अहैतुकी कृपा ने मुझे अपनी कृपा की सुशीतल छांह दी। एम. ए. संस्कृत (दर्शनवर्ग) की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मैं पितृकल्प गुरुजी के सान्निध्य में बैठकर शोध के लिए विषय निर्धारण की बात कर ही रहा था कि गुरुजी के मुखारविन्द से 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' पर शोध करने की बात निकल गयी, मैं खिल उठा। मानों, मूर्च्छित व्यक्ति को संजीवनी की घूँट पिला दी गयी हो।

तदुपरान्त प्रसन्नचित्त मैं गुरुजी की आज्ञा के अनुसार "स्तुतिकुसुमाञ्जलि' का आलोचनात्मक अध्ययन" इस विषय पर शोध प्रबन्ध लिखने के लिए मन्थर गति से प्रवृत्त हुआ। बीच-बीच में आर्थिक, सामाजिक एवं बौद्धिक कठिनाइयों की विभीषिका ने मुझे खूब झकझोरा, मैं अपनी दुर्बलताओं का स्मरण कर भयभीत हो जाता था, निराशा का निबिड अन्धकार मुझे चारों ओर से आक्रान्त कर लेता था। पर, मेरे शोध के सूत्रधार, शास्त्रों के महारथी एवं गाम्भीर्य के समुद्र पूज्य गुरुजी का आशीःसूर्य उस तम का निरसन कर उत्साह और धीरता का आलोक देता रहा। सम्प्रति शोध-निर्देशक श्रीगुरुदेव के स्नेह समन्वित वैदुष्यपूर्ण निर्देशन से पूर्णता को प्राप्त अपने इस शोध-प्रबन्ध को उपस्थापित करता हुआ मैं पूर्ण प्रसन्नता की अनुभूति कर रहा हूँ।

'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' में कवि ने अपने आराध्य के श्रीचरणों में स्तुतिरूपी कुसुमों की अंजलि अर्पित की है। तदनुसार मैंने भी अपने शोध-प्रबन्ध "स्तुतिकुसुमाञ्जलि का आलोचनात्मक अध्ययन" में पंचमूर्ति भगवान् शिव की आराधना के फलस्वरूप शोधविषय-पुष्पों की पाँच अंजलि शिव के लिए समर्पित की है। प्रत्येक अंजलि में चार-चार शीर्षक-पुष्पों को रखा गया है, जिनकी प्रक्रिया यों है—

'प्रथम-अंजलि' (ऐतिहासिक-पक्ष) में कवि परिचय के अन्तर्गत कवि के जन्मकाल, स्थान एवं उसके जीवन सम्बन्धी अन्य विषयों का खण्डन-मण्डन पुरःसर विवेचन है। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण प्रस्तुत करते हुए 'श्रीजगद्धरभट्ट' की काव्य-विषयक दृष्टि का पूर्णरूपेण समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही इसी अंजलि में आचार्य मम्मट प्रतिपादित काव्य प्रयोजनों का तथ्यपूर्ण विश्लेषण करके कवि की कृति में उन प्रयोजनों की सार्थकता एवं स्तुतिकुसुमाञ्जलि के अड़तीस स्तोत्रों की सयुक्तिक व्याख्या पुरःसर उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

'द्वितीय-अंजलि' (बाह्य-पक्ष) में स्तोत्र-काव्य के उद्भव एवं विकास का विवेचन है, जिसमें वैदिककाल से ही स्तोत्रों की शुरुआत तथा रामायण और महाभारत काल तक उसके स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध होने की प्रामाणिक चर्चा है। इसी प्रसंग में 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' को चौदहवीं शताब्दी का सुव्यवस्थित भाषा से समन्वित उत्तम स्तोत्रकाव्य माना गया है। 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' के पूर्ववर्ती प्रमुख स्तोत्रों का उल्लेख कर उसका इसके ऊपर प्रभाव एवं

परवर्ती स्तोत्र-साहित्य पर 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' के प्रभाव की विवेचना प्रस्तुत कर इसी अंजलि में शिव-सम्बन्धी पौराणिक आख्यानों को भी रखा गया है।

'तृतीय-अंजलि' (अन्तः-पक्ष) में शिव के विभिन्न स्वरूपों, यथा—अर्धनारीश्वर, हरिहर, अष्टमूर्ति आदि का नातिसंक्षेपेण विवेचन प्रस्तुत है। 'नारदभक्ति-सूत्र', 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' आदि में प्रतिपादित भक्ति के स्वरूप को महिमा और भेदों के साथ प्रस्तुत कर उसका समन्वयन किया गया है। इस स्तुतिकाव्य में महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट के भाषाविषयक विवेचन-क्रम में व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं, जैसे-कारक-प्रयोग की सफलता, समासों के मनोनुकूल निबन्धन की प्रवीणता एवं धातुओं के प्रयोग-पाटव पर संक्षिप्त प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है। इसके साथ ही इसी अंजलि में कतिपय काव्य-दोषों की 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' में उद्भावना कर युक्तियों द्वारा उसका निराकरण करते हुए प्रस्तुत स्तोत्र-काव्य को सर्वथा निर्दोष सिद्ध किया गया है। 'वृत्तरत्नाकर' एवं 'छन्दोमञ्जरी' में प्रतिपादित लक्षणों के अनुसार कुसुमाञ्जलि के पद्यों की लक्षणोदाहरण पुरःसर व्याख्या के साथ इसी 'छन्द-शीर्षक' में क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलकोक्त' छन्दों की सार्थकता पर भी दृष्टि डाली गयी है।

चतुर्थ-अंजलि (काव्य-पक्ष) में काव्य के विविध उपादेय प्रमेयों का विस्तृत विश्लेषण के साथ-साथ आलङ्कारिकों द्वारा गुण, रीति, अलंकार, रस एवं ध्वनि आदि के सैद्धान्तिक स्वरूपों को उपस्थापित कर सिद्धान्त की कसौटी पर 'कुसुमाञ्जलि' का काव्यात्मक परीक्षण एवं यत्र-तत्र आलोचनात्मक दृष्टि से आक्षेप भी किया गया है। आलङ्कारिक आचार्यों ने जिस भक्ति रस को भाव की श्रेणी में रखा था उसे 'जीवगोस्वामी' और 'रूपगोस्वामी' आदि वैष्णव-आचार्यों के रस विषयक सिद्धान्त को आधार मानकर भक्ति के रसत्व की सिद्धि तथा इसके भेदों का स्तुतिकुसुमाञ्जलि में संगमन कराया गया है।

पञ्चम-अंजलि (दार्शनिक-पक्ष) में दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति, विकास एवं उपयोगिता पर नातिसंक्षेपेण विचार करते हुए प्रस्तुत स्तोत्रकाव्य में न्यायवैशेषिक, साङ्ख्य-योग, मीमांसा वेदान्त तथा तन्त्र और शैवागम की सिद्धान्त-पद्धति को आधार मानकर दार्शनिक स्थलों की व्याख्या की गयी है। इसी शृंखला के अन्तर्गत कवि को पूर्ण शैव एवं उनकी कृति में शिवाद्वैतवाद को स्वीकारा गया है।

उपसंहृति के रूप में उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष तथा कवि का समाज के लिए अवदान का संक्षेप में वर्णन है।

शोधप्रबन्ध शोधकर्ता के चारित्रिक एवं बौद्धिक सफलता का दर्पण होता है। यह छात्र के सम्पूर्ण अध्ययन का प्रतिफलन है। इसके लिए छात्र के शारीरिक, चारित्रक एवं बौद्धिक रूप को संवारने में जितना माता-पिता का उत्तरदायित्व होता है, उससे कहीं अधिक गुरुजनों का।

अतः जिन पूज्यों ने अपना क्षण-क्षण मेरे निर्माण में लगाया है उन लोंगों के प्रति मात्र शब्दों द्वारा कृतज्ञता प्रकट करना अत्यन्त शोभन नहीं है, फिर भी कृतज्ञता ज्ञापन की

औपचारिकता का निर्वाह करते हुए सर्वप्रथम पूज्य पितृव्य पं. श्रीरामभरोसाचतुर्वेदी, पूज्या माँ और पिता जी के श्रीचरणों में प्रणति निवेदित करता हूँ, जिनकी स्नेहमयी गोद में अपरिमित वात्सल्य पाकर मैं इस योग्य हुआ।

मेरे अन्दर विद्याध्ययन की प्रवृत्ति जगाकर जिन्होंने मुझे काशी में पढ़ने योग्य बनाया, उन श्रीमद् अलियार शुक्ल जी, भूतपूर्व प्राचार्य, संस्कृत कालेज, चेनारी के प्रति आभार व्यक्त करना अपना पावन कर्त्तव्य समझकर उन्हें प्रणाम करता हूँ।

काशी में सर्वप्रथम जिनका स्नेह माता-पिता के वियोग की अनुभूति नहीं होने दिया उन परमपूज्य गुरुवर्य डॉ. जगदीशचन्द्रशास्त्री, भूतपूर्व आचार्य, का.हि.वि.वि. तथा पूज्या माताजी (गुरुधर्मपत्नी) के स्नेह समुद्र का स्मरण करते हुए उनके चरणों में नतमस्तक हूँ। मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

एम.ए. संस्कृत-विभाग में प्रवेश लेने के उपरान्त जिनका हिमालय सा महान् व्यक्तित्व और समुद्र सा गम्भीर वैदुष्य अपनी ओर खींच लिया तथा जिन्होंने मुझ अकिञ्चन को कृपा की छाँह दी, उन पूज्य गुरुवर्य प्रो. श्री नारायण मिश्रजी, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के श्रीचरणों में हार्दिक प्रणामाञ्जलि निवेदित करना अपना सौभाग्य मानता हूँ।

इनके अतिरिक्त संस्कृतसंकाय एवं संस्कृतविभाग की समस्त विद्वन्मण्डली, किं वा समस्त भारत के उन तपःपूत मनीषियों को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुझे कुछ दिया है।

अन्त में, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक एवं सनातन धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप महामना मालवीय जी महाराज के पुनीत चरणों में श्रद्धा के सुमन समर्पित करता हुआ आदिकवि वाल्मीकि के इस पद्य—

"मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वय्योपकृतं हरे।
नरःप्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकांक्षति।।"

के अनुरूप सबके उपकार को हृदय में रखकर काशी विश्वनाथ एवं भगवती अन्नपूर्णा को उनकी ही वस्तु समझकर इसे समर्पित करता हूँ—

त्वदीयं वस्तु विश्वेश। तुभ्यमेव समर्पये।।

उमाकान्त चतुर्वेदी

प्रथम अञ्जलि : ऐतिहासिक–पक्ष

कवि परिचय

भारत–मही मर्त्यलोक में विधाता की रमणीय निर्मिति है। ईश्वर ने अनेक प्रकार से यहाँ की प्रकृति–परी का शृङ्गार किया है। उत्तर में विशाल हिमाच्छादित पर्वत–माला, दक्षिण में नीलाभामय नीलाम्बुधि, पश्चिम में अरबसागर और पूरब में अतिगम्भीर बंगाल की खाड़ी भारतवर्ष को परिमण्डित कर सभी दिशाओं में इसकी संस्कृति, ज्ञान और अध्यात्म–चिन्तन की धारा को सुदूर तक पहुँचा रही हैं। हमारे भारतवर्ष के मध्यभाग में प्रवाहित गङ्गा, यमुना और सरस्वती की त्रिवेणी मानों इसके वक्षःस्थल पर विराजमान होकर इसकी पवित्रता और आध्यात्मिक–गरिमा का गान कर रही है। देवताओं ने इसकी रमणीयता पर मुग्ध होकर सहजभाव में ही इसकी भूरि–भूरि प्रशंसा की है। भागवत्कार भगवान् कृष्णद्वैपायन ने कहा भी है—

> **अहो अमीषां किमकारि शोभनं,**
> **प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।**
> **यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे**
> **मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः।।[1]**

इतना ही नहीं, यहाँ के मनीषियों की चिन्तन प्रक्रिया की श्रेष्ठता और मर्यादा को देखकर मनुष्यों को देवताओं ने भी अपने से श्रेष्ठ कहा है—

> **गायन्ति देवाः किल गीतिकानि,**
> **धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।**
> **स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते**
> **भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।[2]**

जिस प्रकार भारत का बाह्य कलेवर सुन्दर है, अन्तःकरण उतना ही मनोरम एवं कोमल। यहाँ की सरस प्रकृति ने ऐसे–ऐसे सरस्वती पुत्रों को जन्म दिया, जिन्होंने भारत की महिमा को हरदम के लिए अक्षुण्ण बना दिया। महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट उन्हीं पुत्ररत्नों में से एक हैं। कवि और उसका कर्म (काव्य) राष्ट्र के लिए सदा ही नवीन जीवन प्रदान करता है।

---

1. श्रीमद्भागवत, स्क. 5/19/21
2. विष्णुपुराण, 2/3/25

कोशग्रन्थों के अनुसार कवि शब्द का प्रयोग ब्रह्मा और काव्य रचयिता दोनों के लिए होता है—'कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूः'[1] परन्तु सम्प्रति कवि शब्द का प्रयोग काव्य-रचयिता के लिए ही हो रहा है। वैदिक आचार्यों के अनुसार ईश्वर ही संसार को सन्मार्ग पर लाने के लिए कवि के रूप में अवतीर्ण होता है। वैदिक वाङ्मय में क्रान्तदर्शी का नाम कवि है।[2] कवि कार्य की सर्जना करता है, जो मानव के हृदय में बैठी चेतना को उद्बोधित करता है। काव्य का उदय सृष्टि की उस मधुर बेला में हुआ, जब स्वयं भगवान् प्रजापति मानवीय सृष्टि कर अन्तःकरण में रागात्मिका भावना का सृजन कर रहे थे।

विश्व-वाङ्मय में संस्कृत भाषा की प्राचीनता एवं श्रेष्ठता सर्वविदित है। भारतीय संस्कृति, सभ्यता, दर्शन एवं काव्यशास्त्र का प्रणयन संस्कृत भाषा में ही करके ऋषि-मनीषियों ने हमें वरदान के रूप में प्रदान किये, जिनके जीवन के सम्बन्ध में पूर्णतः उल्लेख का प्राप्त नहीं होना संस्कृत भाषा का भूषण नहीं, दूषण है। 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' की भावना से ओत-प्रोत मनीषियों की शेमुषी समाज का कल्याण करने में लीन रही, आत्म-परिचय के सम्बन्ध में लिखना उनके लिए आनुषङ्गिक जान पड़ा। धीरे-धीरे समय परिवर्तित हुआ, कवियों ने आत्म-परिचय को काव्य के माध्यम से ही इङ्गित करने की प्रक्रिया शुरू की। महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट भी इसके अपवाद नहीं। स्तुति के अन्त में इन्होंने 'वंशवर्णनम्' शीर्षक की रचना की, जिसके आधार पर इनके सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात किया जा सकता है।

वंश वर्णन

जगद्धरभट्ट कश्मीरवासी थे। पाण्डित्य इनका आनुवंशिक गुण था। समस्त कलाओं एवं शास्त्रों में अनायास थिरकने वाली सरस्वती इनके पितामह श्रीगौरधर की जिह्वाग्रनर्तकी होकर अनवरत अनुरंजन करती रहती थी। शिवत्व की भावना से अनुप्राणित श्रुतिपारदृश्वा महाकवि गौरधर श्रीसदाशिव के उपासक थे। यजुर्वेद के ऊपर वेदविलास नामक भाष्य इनके वैदिक-वैदुष्य का सफल निदर्शन है। 'वंश-वर्णनम्' शीर्षक में कवि ने लिखा है—

अनन्त-सिद्धान्त-पथान्तगामिनः
समस्त-शास्त्रार्णव-पारदृश्वनः।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना
व्यनक्ति यस्याद्भुत-विश्रुतं श्रुतम्।। [3]

महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट के पिता अन्वर्थ नाम श्रीरत्नधर विद्या के समुद्र थे, महाकवि ने इनके वैदुष्य का वर्णन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है—

यमाश्रिताह्वास्त सरस्वती हरे-
रुरःस्थलं रत्नधरं श्रितां श्रियम्।।[4]

---

1. वाचस्पत्य कोश, तृतीय भाग-15.
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, प्राक्कथन, पृ. 5.
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 39/3
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 39/4.

अभिप्राय यह है कि सरस्वती ने अन्यत्र अपने निवास के उपयुक्त स्थान नहीं पाकर विवशता वश इनका आश्रय लिया था। उनका वाग्विलास विद्वानों का शृङ्गार था। वे सरस्वती के वरदपुत्र थे।

'आत्मा वै जायते पुत्रः' के अनुसार श्रीजगद्धरभट्ट ने अपने जन्म से पुण्यकर्मा माता-पिता एवं समस्त वंश को पावनतम कर दिया। गम्भीर बुद्धि विलास एवं नैसर्गिक कवित्व-प्रतिभा के धनी महाकवि सभी शास्त्रों एवं अनुभवों के पार चले गये थे। सभा में इनकी बातों को प्रतिद्वन्द्वी मौन होकर सुनते। मानों किसी सद्गुरु की विद्या को अपने तह तक सजाने के उत्सुक शिष्यगण तल्लीन हो गये हों। इनके वाग्विलास को देखकर ज्ञात होता था कि शारदा भटकते-भटकते अपना स्थिर आश्रय पा गयी हो। महाकवि के ही शब्दों में—

स्वामिन् वाङ्मयदेवता भगवती स्वेच्छाविहारक्रिया-
क्रीडाकाननमाननं भवभवद्भक्तस्य नूनं व्यधात्।
नो चेन्नूतननूतनः प्रतिदिनं हृद्यः समुद्यत्क्रमा-
दस्मिन्नुज्ज्वलवर्णकोमलपदन्यासः कथं लक्ष्यते।।[1]

शैशवकाल से ही इनमें कवित्व शक्ति का बीज अङ्कुरित था। शास्त्रों में गाम्भीर्य, व्यवहार में विनम्रता एवं कला में काव्यनिर्माण चातुरी आदि गुण इन्हें विरासत के रूप में मिले थे। ठीक ही है—'कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते'[2] शिव के प्रति अनन्य भक्ति के अनिवार्य प्रवाह ने इन्हें बहा दिया। फलतः संसार असार प्रतीत होने लगा। कवि ने भक्ति के समुद्र में डुबकी लगायी, सभी देखने लगे। कवि आया भी, पर एक महाकवि के रूप में, शिवभक्त के रूप में। सभी स्तब्ध रह गये कवि की वाणी में नये भावों, नये लय और नये ताल का संयोग था। उसके हृदय के तार-तार से स्तुतियों की, भावनाओं की झंकार निकलती थी, जो मूक होकर भी संगीतमय थी। उसे दुनिया ने सुना भी, पर शिवस्तुति के रूप में। कवि के भग्नावरण चिद्विशेष से स्रुत रसनिषेक सभी सहृदयों को अभिसिंचित कर दिया। कहा भी है—

तेनादृतेन शिशुनैव निवेद्यमान-
मानन्दकन्दलितभक्तिकुतूहलेन।
एतं मृगाङ्ककलिकाकलितावतंस-
शंसारसायनरसं रसयन्तु सन्तः।। [3]

विद्या क्षेत्र के साथ-साथ इनका कुलक्षेत्र भी उत्कृष्ट था। ये भारद्वाजगोत्रोत्पन्न श्रेष्ठ ब्राह्मण थे। इसकी पुष्टि के लिए महाकवि का पद्य ही प्रमाण है—

मनुष्यता पूरुषताग्र्यवर्णता
मनीषिता सत्कविता शिवैकता।

---

1. वहीं, 33/2.
2. नैषधीयचरितम्, 1/45.
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, वंशवर्णनम्, 10.

इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः
स्तुतिःप्रसङ्गेन गता कृतार्थताम्।।[1]

अभिप्राय यह है कि प्रथम तो मानव जन्म दुर्लभ है, तदनन्तर पुरुष शरीर की प्राप्ति और उसमें भी ब्राह्मण कुल में जन्म, इसके बाद विद्वत्ता एवं सत्काव्यनिर्माण में प्रवृत्ति और उसमें भी शिवैकता अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। इस प्रकार उत्तरोत्तर मेरे कल्याण की परम्परा प्रभु की कृपा से प्राप्त हुयी है।

वंश-वर्णन के प्रथम श्लोक की हिन्दी टीका में श्री प्रेमवल्लभ त्रिपाठी ने भी श्रीजगद्धरभट्ट को भारद्वाज-गोत्रीय बतलाया है।[2]

जन्मस्थान

इन्होंने 'वंश-वर्णनम्' शीर्षक में अपने वंश एवं वैभव का तो उल्लेख किया है, परन्तु जन्मस्थान के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं किया है। फिर भी स्तुतिकुसुमाञ्जलि, इसकी टीकाओं एवं अर्वाचीन आलोचकों द्वारा लिखित ग्रन्थों के आधार पर इन्हें कश्मीर-भूमि की उपज ही माना जा सकता है, जो इस प्रकार है—

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के आधार पर

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के उन्तीसवें स्तोत्र में महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट ने 'विजयेश्वर महादेव' की स्तुति की है। इनको कश्मीर की ही प्रसिद्ध मूर्ति मानी जाती है। वह पद्य इस प्रकार है—

दैव्यां भ्रमद्भुवि जयाविजयार्चितायां
सक्ता तवास्तविजया विजयाय दृष्टिः।
वृष्ट्येव भूर्दिविजया विजयाख्यया ते
मूर्त्या त्रसद्रविजयाऽऽवि जयाह्वया च।। [3]

इस पद्य के आधार पर कवि का कश्मीरी होना सिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी कृति में कुछ ऐसे विशिष्ट शब्दों के प्रयोग किये हैं, जो इनके कश्मीरी होने के प्रमाण हैं।

रुदत्यः

इसका प्रयोग कवि ने नवें स्तोत्र के बहत्तरवें पद्य में किया है—'त्वां जीवितेश इति यत्स्तुवते रुदत्यः'[4] इसकी व्याख्या में संस्कृत टीकाकार ने इस शब्द के लिये 'निरीश्य' शब्द प्रचलित बतलाया है।[5] मृतक के लिए भाड़े पर कृत्रिम रूप से रोने-धोने की प्रथा

1. वही, 38/9.
2. वही, पृ. 519.
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/70.
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 90/72
5. वहीं, 9/72 की लघुपञ्चिका टीका

कश्मीर में है। अनुवादक ने भी लिखा है—"भाड़ा लेकर किसी मृतक के निमित्त कृत्रिम रूप से रोने वाली स्त्रियाँ, जिन्हें कश्मीर में 'निरीश्य' और विदेशों में अह्वनकारी कहा करते हैं।[1]

दूढ्यः

कुसुमाञ्जलि के एकादश स्तोत्र में दूढ्य शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके सम्बन्ध में टीकाकार रत्नकण्ठ कहते हैं कि यह शब्द कश्मीर में 'डोड़' शब्द से पुकारे जाने वाले ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त हुआ है। देवताओं तथा पितरों के लिए धार्मिक कार्यों में निमन्त्रित न होते हुए भी ऐसा ब्राह्मण स्वयं उपस्थित हो जाता है। टीकाकार कहते हैं—"हव्यकव्य-विधावनिमन्त्रितः स्वयमागतो दूढ्य इति कश्मीरेषु भाषया विप्रो 'डोड' इति प्रसिद्ध इति।"[2]

टीकाकारों के आधार पर

स्तुतिकुसुमाञ्जलि की रत्नकण्ठ विरचित लघुपञ्चिका नाम की टीका में "देव्यां भ्रमद्भुवि...विजयाह्वया च" इस पद्य की व्याख्या में लिखा है—अधुना निजभक्तजनानुद्धर्तुं विहितनिजदेशकश्मीरस्थितिं श्रीविजयेश्वरं स्तौति कविः वृष्ट्येवेत्यादिना। तथा हे विभो! ते तव सम्बन्धिन्या विजयाख्यया विजयेश्वरसंज्ञया कश्मीरदेशेऽतिप्रसिद्धया...इत्यादि।[3]

इसके अतिरिक्त रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि के वंशवर्णन की टीका के अन्त में श्रीजगद्धरभट्ट को काश्मीरक महाकवि कहा है—"इति श्रीराजानकशंकरकण्ठात्मजरत्न-कण्ठविरचितायां स्तुतिकुसुमाञ्जलिव्याख्यायां लघुपञ्चिकायां काश्मीरकमहाकविश्रीजगद्धर-भट्टस्य वंशवर्णनम्।"[4]

हिन्दी अनुवादक श्रीप्रेमवल्लभ त्रिपाठी ने भी इन्हें प्रत्येक स्तोत्र के अन्त में काश्मीरक कवि कहा है—"इति श्रीकाश्मीरक-महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट-विरचिते भगवतो महेश्वरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलौ स्तुति-प्रस्तावना-नामकं प्रथमं स्तोत्रम्।"[5]

आधुनिक आलोचकों के अनुसार

आधुनिक आलोचक भी जगद्धरभट्ट को काश्मीरी ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय कहते हैं—"शैव स्तोत्रों के प्रणयन में जगद्धरभट्ट का नाम प्रमुख है। जगद्धरभट्ट ने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय दिया है। उससे पता चलता है कि इनके पितामह का नाम गौरधर था, जो तत्कालिक विद्वन्मण्डली में अग्रणी तथा यजुर्वेद के 'वेदविलास' नामक भाष्य के रचयिता थे। इनके पिता रत्नधर कवि तथा शिवभक्त थे। इन्होंने अपने पुत्र यशोधर के लिए बालबोधिनी नामक कातन्त्र-व्याकरण की एक वृत्ति लिखी थी, जिसके ऊपर राजानक 'शितिकण्ठ' ने संस्कृत टीका लिखी है। ये कश्मीर के अन्तर्गत पद्मपुर के निवासी थे। इस व्याख्या की रचना शितिकण्ठ ने कश्मीर के बादशाह हसनशाह

---

1. वहीं, लघुपञ्चिका, पृ. 76
2. लघुपञ्चिका टीका, पृ. 109.
3. वहीं, पृ. 217.
4. वहीं, पृ. 256.
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, पृ. 17.

(1472–84 ई.) के राज्य-काल में की थी। इस प्रकार जगद्धर-भट्ट शितिकण्ठ से पूर्व छठी पीढ़ी में वर्तमान थे...।"[1]

'विश्वसंस्कृतशताब्दी' ग्रन्थ में कश्मीर में उत्पन्न होने वाले तथा उपलब्ध प्रायः सभी विद्वानों का अन्वेषणात्मक, किन्तु संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। जगद्धरभट्ट के सम्बन्ध में लिखा है—"1350 ख्रिष्टाब्दे कश्मीरप्रदेशस्य पद्मपुराख्यग्रामे जनिमसौ लेभे। अमुष्य पितुर्नाम रत्नधरः। जगद्धरेण बालबोधिनी नाम्नी कातन्त्रवृत्तिरेका रचिता, किञ्च स्तुति-कुसुमाञ्जलिनामकः स्तोत्रग्रन्थोऽप्यमुष्य प्रसिद्धः।"[2]

वैदिक विद्वान् 'द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल' ने भी इन्हें 'असावपि कश्मीरकः' लिखा है।[3] इस प्रकार अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्य प्रमाणों के आधार पर इन्हें निश्चित रूप से कश्मीर प्रदेश के अन्तर्गत 'पद्मपुर' निवासी ही कहा जा सकता है।

जन्मकाल

संस्कृत वाङ्मय के अन्य कवियों की भाँति ये भी अपने जन्मकाल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं करते हैं। इतिहास लेखकों–जैसे कीथ, वाचस्पति गैरोला आदि विद्वानों ने भी इनके सम्बन्ध में कोई निश्चित और प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत नहीं किये हैं। फिर भी प्रेमवल्लभ त्रिपाठी द्वारा लिखित स्तुतिकुसुमाञ्जलि की हिन्दी भूमिका और कुछ आलोचक विद्वानों के अनुसार इनका जन्म समय 1350 ई. के लगभग स्वीकार किया जा सकता है।

श्रीजगद्धरभट्ट ने अपने पुत्र यशोधरभट्ट को पढ़ाने के लिए 'बालबोधिनी' नामक कातन्त्रावृत्ति की रचना की थी। इस ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में इन्होंने स्वयं लिखा है कि अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिए मैंने बालबोधिनी लिखी है—

स्वसुतस्य शिशोर्यशोधरस्य,
स्मरणार्थं विहितो मया श्रमोऽयम्।
उपयोगमियाद्यदि प्रसङ्गा-
दपरत्रापि ततो भवेदबन्ध्यः।।
इति मितबालबोधनार्थं
परिहृतवक्रपथैर्मया वचोभिः।
लघुललितपदाव्यधायि वृत्ति-
र्मृदु सरला खलु बालबोधिनीयम्।।[4]

बालबोधिनी पर एक संस्कृत टीका भी है, जो कश्मीर प्रदेश के पद्मपुर ग्राम निवासी शितिकण्ठ द्वारा लिखित है। राजानक शितिकण्ठ श्रीजगद्धरभट्ट के पौत्र की पौत्री के पुत्र, यानी महाकवि की छठी पीढ़ी के थे। इसका प्रमाण शितिकण्ठ की टीका से स्पष्ट मिलता है—

---

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास,' पृ. 365.
2. विश्वसंस्कृतशताब्दी ग्रन्थः, पृ. 6.
3. वैदिकवाङ्मय का इतिहास, पृ. 100
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि की हिन्दी भूमिका, पृ. 24.

यो बालबोधिन्यभिधां बुधेन्द्रो
जगद्धरो यां वितितान वृत्तिम्।
तन्नप्तृकन्यातनयातनूजो
व्याख्यामि तां श्रीशितिकण्ठकोऽहम्।[1]

शितिकण्ठ वस्तुतः मेधावी विद्वान् थे। इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर गुजरात के तत्कालिक अधिपति महाराज मुहम्मदशाह ने इनका सम्मान किया। जिस समय हैदरशाह का लड़का हसनशाह कश्मीर का शासक था उसी समय इस स्तोत्र-काव्य की रचना की गयी- ऐसा प्रतीत होता है। भूमिका में लिखा गया है—"भूजानौ हस्सनाख्ये भुवनमवति मया तन्यते एष ग्रन्थः।"[2]

ऐतिहासिक अध्ययन से यह स्पष्ट ही है कि ईस्वी संवत् 1458 से 1511 ईस्वी तक मुहम्मदशाह ने गुजरात पर शासन किया और 1472 से 1484 तक हसनशाह ने कश्मीर में। इसी समय कातन्त्रवृत्ति पर शितिकण्ठ ने टीका लिखी, जो इनके छठीं पीढ़ी के थे। अतः यह स्पष्ट है कि जगद्धर और शितिकण्ठ में छः पीढ़ी का अन्तर होने से ये लगभग एक सौ वर्ष पूर्व हुये होंगे। अतः 1350 ईस्वी के आसपास इनका जन्मसमय प्रतीत होता है।

इनके सम्बन्ध में द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने लिखा है—"भट्टोऽयं चतुर्दशशताब्दी सम्भवो विद्वद्वरस्य गौरधर-भट्टस्य पौत्रः रत्नधरभट्टस्य चात्मज आसीत्।"[3]

श्रीजगद्धरभट्ट के स्थितिकाल के सम्बन्ध में युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं— "जगद्धरभट्ट अपने पुत्र यशोधर को पढ़ाने के लिए कातन्त्र की बालबोधिनी वृत्ति लिखी है। जगद्धर कश्मीर का प्रसिद्ध पण्डित है। उसने स्तुतिकुसुमाञ्जलि और मालतीमाधव आदि अनेक ग्रन्थों की टीकायें लिखी है। जगद्धर के पितामह गौरधर ने यजुर्वेद की वेदविलास नाम की व्याख्या लिखी है।"[4]

डॉ. बेल्वाल्कर ने जगद्धर का काल 10वीं शताब्दी माना, वह ठीक नहीं है। क्योंकि जगद्धर ने वेणीसंहार नाटक की टीका में रूपावतार को उद्धृत किया है। रूपावतार की रचना 1240 ईस्वी के लगभग हुई है। अतः जगद्धर का काल संवत् 1350 के लगभग ही है। बम्बई विश्वविद्यालय के जर्नल में छपे 'डेट आफ जगद्धर' लेख में भी जगद्धर का काल सामान्यतया ईसा की 14वीं शताब्दी प्रमाणित किया है।[5]

भगवदत्त इस सम्बन्ध में कहते हैं—"जगद्धरभट्ट कश्मीर का एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। उसने मालवीमाधव आदि अनेक नाटकों पर अपनी टीकायें रची है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इसने भक्तिभावपूर्ण स्तुतिकुसुमाञ्जलि नामक एक ग्रन्थ का निर्माण किया था। इस ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश का वर्णन करते हुए—'पुरा पुरारे...विपश्चितां गौरधरः किलाग्रणीः'

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि की हिन्दी भूमिका, पृ. 24.
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि का ग्रन्थकार परिचय, पृ. 25.
3. संस्कृतसाहित्य विमर्श, पृ. 677.
4. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-1 खण्ड-2, पृ. 90.
5. व्याकरण साहित्य का इतिहास, पृ. 568.

लिखा है। संस्कृत टीकाकार रत्नकण्ठ ने भी—'तादृशस्य गौरधरस्य ऋजुर्निर्मला निर्दोषा च यजुर्वेदपदानामर्थवर्णना भाष्यपद्धतिर्वेदविलासनाम्नी, यस्याद्भुतं च विश्रुतं प्रसिद्धं च श्रुतं व्यनक्ति प्रकटयति' ऐसा लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि गौरधर ने यजुर्वेद पर वेदविलास नामक भाष्य लिखा था। उसके अन्त में लिखा है—'इति ऋजुव्याख्याने संहितायाश्च-त्वारिंशत्तमोऽध्यायः। संवत् 1564 फाल्गुनशुद्ध 14 भौमे लिखितम्।' बहुत सम्भव है कि गौरधर प्रणीत यजुर्भाष्य यही हो। गौरधर स्तुतिकुसुमाञ्जलिकार श्रीजगद्धरभट्ट के पितामह थे। स्तुतिकुसुमाञ्जलि के सम्पादक पं. दुर्गाप्रसाद एवं पं. काशीनाथ पाण्डुरंग परब अपनी भूमिका में लिखते हैं कि सन् 1352 के समीप जगद्धरभट्ट का काल था। गौरधर उससे 50 वर्ष पहले हुआ होगा। अतः संवत् 1300 के समीप गौरधर का समय मानना चाहिए।"[1]

विन्टरनिट्ज ने इनके सम्बन्ध में लिखा है—"14वीं शताब्दी में जगद्धर ने एक शिवस्तोत्र (38 स्तोत्रों में) स्तुतिकुसुमाञ्जलि नाम से लिखा है।"[2]

इन उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रीजगद्धरभट्ट का जन्म समय 1350 ईस्वी, यानी चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सुनिश्चित है।

रचनायें

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के निर्माता महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट अपनी पैनी प्रतिभा एवं कवित्व शक्ति से कितनी रचनायें की–इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है।

श्रीकृष्णमाचार्य ने अपने इतिहास ग्रन्थ में—"चत्वारः कवयो जगद्धरनाम्ना ख्याताः" लिखा है। उनमें प्रथम दर्पदलन ग्रन्थ के निर्माता, द्वितीय मालतीमाधव और देवीभागवत के टीकाकर्ता, तृतीय स्तुतिकुसुमाञ्जलि और बोलबोधिनी नामक कातन्त्रवृत्ति के निर्माता, चतुर्थ अपशब्द निराकरण और मेधावीत्रिविक्रम ग्रन्थ के निर्माता हैं।[3]

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से सम्पादित पत्रिका में—गीतगोविन्द की उपलब्ध 36 टीकाओं में सारदीपिका नाम की टीका श्रीजगद्धरभट्ट द्वारा रचित बतलाई गयी है।[4] गीतगोविन्द की टीका के आदि में लिखा है—

ॐ नमो गणेशाय। श्रीकृष्णाय नमः।
करिकलितभुजङ्गो न्यस्तविन्यस्तगङ्गो
विदितनरतुरङ्गो दत्तदैतेयसङ्गः।
चिरविगलदनङ्गस्त्यक्तसङ्गाङ्गनङ्गो
भवति कमपि भूत्यै शम्भुरुन्मुक्तगङ्गः॥
नाना टीका समालोक्य विचिन्त्य सुचिरं हृदा।
गीतगोविन्दटीकेयं क्रियते श्रीजगद्धरैः॥[5]

---

1. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ. 99.
2. भारतीय साहित्य का इतिहास, अनु. — डॉ. सुभद्र झा, पृ. 171.
3. भारतीय साहित्य, भाग–2, पृ. 115
4. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग–18, पृ. 71 प्रकाशन सं. 1994.
5. गीतगोविन्द — टीका, मंगलाचरण।

पं. भगवद्दत्त, युधिष्ठिरमीमांसक आदि विद्वानों ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि के निर्माता श्रीजगद्धरभट्ट को ही अन्य टीकाओं एवं ग्रन्थों का निर्माता माना है। इनका कहना है कि ये ही जगद्धरभट्ट देवीमाहात्म्य, भगवद्गीता, मालतीमाधव, मेघदूत की रसदीपिका टीका, वासवदत्ता, वेणीसंहार, मुद्राराक्षस, सरस्वतीकण्ठाभरण, गीतगोविन्द की सारदीपिका, तत्त्वदीपनी आदि के निर्माता हैं। परन्तु डॉ. सरनामसिंह ने अपने 'हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव' नामक ग्रन्थ में श्रीजगद्धरभट्ट की रचना केवल स्तुतिकुसुमाञ्जलि ही मानी है।[1]

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है—"जगद्धर महाकवि थे। परन्तु उन्होंने अपनी कवित्व शक्ति का उपयोग केवल शिवस्तुति में किया और किसी विषय पर उन्होंने कविता नहीं लिखी।"[2]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि एवं कातन्त्रवृत्ति के अध्ययन से लगता है कि इन्होंने केवल दो ग्रन्थों की ही रचना की है। इनका केवल एक ही रट है—शिव की स्तुति। इनका कहना है—हे शिव! जैसे कोई मधुपान से मत्त होकर सोई हुयी वधू को जगाता है वैसे ही मैंने इस समय वधू के समान सुमधुर वाणी को आपके गुणानुवाद के लिए जगाया है—

मधुनाशिनार्चितसमं मधुना
मधुनामपुष्पजनुषा मधुना।
मधुनालसामिव वधूमधुना
मधुना प्लुतां त्वयि गिरं मधुना।।[3]

क्योंकि आपका स्वल्पस्तवन भी महान् से महान् पापों को नष्ट कर देता है—

ध्रुवं तथैवाणुरपि स्तवः प्रभो!
क्षणादघं दीर्घमपि व्यपोहति।। [4]

इतना ही नहीं, बल्कि सत्कवि की शिवैकशरणा वाणी ही सर्वोत्कृष्ट है—'वाणी शिवैकशरणा जयतीश्वरीव।'[5]

इनकी कृतियों के सम्बन्ध में आचार्य बलदेव उपाध्याय का कथन है—"स्तुतिकुसुमाञ्जलि में 38 स्तोत्र हैं। श्लोकों की संख्या 1415 है। जगद्धर भगवान शंकर के अनन्य उपासक थे। इनका अन्तःकरण बाल्यावस्था से ही सदाशिव की आराधना की ओर झुका हुआ था। इस कारण सुधासहोदर शम्भुस्तवन को छोड़कर अन्य कोई भी ग्रन्थ लिखने की ओर इनकी प्रवृत्ति नहीं हुयी। इसलिए वेणीसंहार और मालवीमाधवम् के टीकाकार श्रीजगद्धर स्तुतिकार से नितान्त भिन्न हैं।"[6]

---

1. हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, पृ. 84.
2. सरस्वती पत्रिका, 1926 भाग 27, खण्ड-2.
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/62.
4. वही, 7/10.
5. वहीं, 5/10.
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 366.

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्तुतिकुसुमाञ्जलि के निर्माता श्रीजगद्धरभट्ट द्वारा विरचित दो ही ग्रन्थ हैं—स्तुतिकुसुमाञ्जलि और कातन्त्रवृत्ति। इसके अतिरिक्त टीकाकर्ता के रूप में प्रसिद्ध जगद्धरभट्ट इनसे सर्वथा भिन्न हैं। राजानक शितिकण्ठ ने स्पष्ट लिखा है कि जगद्धरभट्ट ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि तथा बालबोधिनी के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ नहीं लिखा—"अयं स्तुतिकुसुमाञ्जलिग्रन्थकर्ता काश्मीरको महाकविः श्रीजगद्धरभट्टः स्वसूनोर्यशोधरस्य कृते बालबोधिनीसमाख्यां कातन्त्रवृत्तिं च प्रणीतवान्। स्तुतिकुसुमाञ्जलिं बालबोधिनीञ्चापहाय नान्यः कोपि ग्रन्थो जगद्धरप्रणीतः प्राप्यते। वासवदत्ता-वेणीसंहार-मालतीमाधवानां टीकाकारो जगद्धरस्त्वस्माद्भिन्न इति तत्तद्ग्रन्थ समाप्तिस्थलप्रशस्तिपर्यालोचनया प्रतीयते।"[1]

निष्कर्षतः महाकवि उत्तम कुलोत्पन्न भारद्वाजगोत्र-चूडामणि, विद्वानों में श्रेष्ठ एक विलक्षण व्यक्ति थे। इनका जन्म कश्मीर प्रदेश के पद्मपुर ग्राम में सन् 1350 ई. में हुआ था। शिवोपासना में मग्न महाकवि अनेक शास्त्रों के पारंगत विद्वान् के साथ-साथ अद्वितीय कवित्व-निर्माण प्रतिभा से सम्पन्न थे। गम्भीरतम भावों को भी सरल एवं सरस भाषा के माध्यम से पाठक तक पहुँचाने की कला में पूर्णतया निष्णात थे, जो महाकवि के लिए उचित भी है। क्योंकि—

न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला
जायते यन्न न काव्याङ्गमहो भारो महाकवेः।। [2]

काव्य-परिचय

संस्कृत साहित्य की एक लम्बी यात्रा है, जो देश, काल और परिस्थिति के अनुसार सीमटी और विस्तृत हुई। काव्य कवि की सहज भावनाओं से निसृत वह प्रवाह है, जो शुष्क चेतना को सरस और बज्र हृदय को भी मृदुल बना देता है। सामान्यतः काव्य का अर्थ काव्य-निर्माण की प्रतिभा से सम्पन्न कवि की वह रचना है, जो सहृदय को भावों के हौले-हौले वातावरण में झूमाती हुयी नयी चेतना एवं स्फूर्ति प्रदान करती है। कवि एकदेशीय होता है, परन्तु उसकी प्रतिभा होती है बहुद्देशीय। वह एक जगह बैठकर भी विश्व का दर्शन करता है।

वैदिक-वाङ्मय के उपरान्त लौकिक संस्कृत-भाषा में प्रणीत महर्षि वाल्मीकि की रामायण को आदिकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। तत्पश्चात् काव्य सर्जना की एक ऐसी धारा फूटी, जिसमें देश के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का चितेरा दृश्य सामने आया। स्तुतिकुसुमाञ्जलि श्रीजगद्धरभट्ट की शिवभक्ति से परिपूर्ण सफल स्तोत्र-काव्य है। इसमें न केवल आराधक का आराध्य के प्रति समर्पित भावों का चरम उत्कर्ष है, अपितु काव्य-सिद्धान्तों का पूर्णतया निर्वाह भी।

प्राचीन आचार्यों ने साहित्य और काव्य शब्द को समानार्थक माना है एवं इसके स्वरूप-बोध के लिए दो प्रकार की पद्धतियों का आश्रय लिया है—व्युत्पत्ति एवं स्वरूप लक्षण। व्युत्पत्ति के माध्यम से काव्य या साहित्य का जो अर्थ उन्होंने निर्धारित किया है वह

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, संस्कृत टीका, भूमिका, पृ. 2.
2. काव्यालङ्कार, 5/4

इस प्रकार है—'सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्'— अर्थात् सहित का भाव साहित्य है और सहित का अर्थ सहभाव से लिया जाता है। यह सहभाव शब्द और अर्थ का है। आचार्य भामह द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षण—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[1] द्वारा सहभाव का बोध पर्याप्तरूपेण नहीं हो पाता। शायद इसी कमी की पूर्ति आचार्य राजशेखर ने 'शब्दार्थयोः यथावत् सहभावः'[2] वाक्य द्वारा की। भाव यह है कि शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव को साहित्य या काव्य का अभिधान दिया जाता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य वाङ्मय में भी शब्द और अर्थ का सहभाव रहता है—शब्दार्थयोः नित्यः सम्बन्धः।[3] परन्तु वह यथावत् सहभाव नहीं होता। इसी उद्देश्य से महिमभट्ट ने वाङ्मय को तीन भागों में विभक्त किया है—

> शब्दप्रधान वैदिकवाङ्मय
> अर्थप्रधान पुराणवाङ्मय
> समप्रधान काव्यवाङ्मय।[4]

अलंकारशास्त्र के आदि आचार्य भरतमुनि से लेकर आज तक काव्य-सिद्धान्त एक विवाद का विषय बना हुआ है। अनेक आचार्यों ने काव्य के बाह्य (शरीरपक्ष) और आभ्यन्तर (आत्मपक्ष) को लेकर लेखनी चलाई है। भरतमुनि के अनुसार काव्य का तात्पर्य ऐसे वाक्य समूह से है, जो कोमल और लालित्यपूर्ण पदों, गूढ़ अर्थ की प्रधानता से रहित, सामान्य बोध, नृत्योपयोगी तथा सन्धि सन्धान से समन्वित होते हुए पूर्णरूपेण रसास्वाद कराने में समर्थ हो—

> मृदु ललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं
> जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोग्यम्।
> बहुकृतरसमार्गसन्धिसन्धानयुक्तं
> भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्[5]

आचार्य दण्डी के अनुसार काव्य इष्ट अर्थ से युक्त पदसमूह है—'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्'[6] वामन ने रीति को काव्य का सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व मानकर रीति-विशिष्ट शब्दार्थयुगल को काव्य माना—'रीतिरात्मा तु काव्यस्य'[7] ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को ही काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार करते हुए ध्वनि प्रधान पदसमूह को काव्य स्वीकार किया है—

---

1. काव्यालङ्कार, 1/16.
2. काव्यमीमांसा, 1/4.
3. काव्यप्रकाश, वामनी, पृ. 45.
4. व्यक्तिविवेक, पृ. 6.
5. नाट्यशास्त्र, 16/124 'स भवति शुभकाण्व्यं नाटकप्रक्षकाणाम्' क, ख पा.
6. काव्यदर्श, 1/10.
7. काव्यालङ्कारसूत्र, 1/1.

'काव्यस्यात्माध्वनिरिति।'[1] आचार्य मम्मट ने दोष-रहित, गुण और अलङ्कार सहित एवं कहीं-कहीं स्फुट अलङ्कार से रहित भी शब्दार्थ युगल को काव्य का अभिधान दिया है— "तददांषौ शब्दार्थौ सगुण-वनलङ्कृती पुनः क्वापि।"[2] पीयूषवर्षी कवि जयदेव ने भी निर्दोष एवं रीति-गुण आदि से युक्त शब्द को काव्य स्वीकार किया है—

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।।[3]

रसवादी आचार्य विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा है— 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[4] पण्डितराज जगन्नाथ की दृष्टि में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है— 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दःकाव्यम्।'[5]

इस प्रकार दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्य के शरीर पक्ष पर विशेष ध्यान दिया आत्मपक्ष की ओर नहीं। आचार्य दण्डी के बाद काव्य के उभयपक्षों—शरीरपक्ष एवं आत्मपक्ष—दोनों पर विचार-विमर्श होने लगे, जो आचार्य मम्मट तक जाते-जाते पूर्ण परिष्कृत हो गये। वस्तुतः मम्मट का काव्यलक्षण काव्य के बाह्य-शब्द और अर्थ तथा उसके अन्दर विद्यमान गुण, रस और अलङ्कार आदि को स्पष्ट रूप से व्यक्त करता है। विश्वनाथ और जगन्नाथ आदि आचार्यों ने काव्य के शरीर पक्ष को कम और आत्मपक्ष को विशेष महत्त्व दिया है। इन लोगों का अभिप्राय काव्य में रसप्रवणता और अर्थ के लोकोत्तर चमत्कारकारी होने में है।

एक अन्य परम्परा में कवि-व्यापार को ही काव्य का सर्वस्व माना गया है। इसका दर्शन हमें कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितम्' में मिलता है, किन्तु इस कवि-व्यापार को रसादि के अभिव्यंजक गुण और अलङ्कारादि विशिष्ट होना चाहिये। जो शब्दार्थ योजना द्वारा सामाजिक को आह्लादित कर सके।[6]

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार आचार्यों में काव्य के स्वरूप एवं उसके आत्मतत्त्व को लेकर कुछ विषमता दीखती है पर इतना अवश्य है कि काव्य में चाहे शब्द का प्राधान्य हो या अर्थ का, अथवा शब्द और अर्थ दोनों की संयोजना करने वाले कवि-व्यापार का, फिर भी शब्द, अर्थ एवं कवि-व्यापार—इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि इन तीनों के रहने पर ही काव्य की सार्थकता है।

---

1. ध्वन्यालोक, 1/1.
2. काव्यप्रकाश, 1/3.
3. चन्द्रालोक, 1/7.
4. साहित्यदर्पण, 1/3.
5. रसगङ्गाधर, 1/1.
6. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. 11.

जगद्धरभट्ट की काव्यदृष्टि

स्तुतिकुसुमाञ्जलि मंजुल और सरस पदों से परिलसित स्तुति–काव्य है। महाकवि ने 'कवि–काव्य–प्रशंसा' नामक पंचम स्तोत्र की रचना की है। इसमें इन्होंने काव्य को किन–किन दोषों से रहित होना चाहिये—इसका सामान्यतया उल्लेख किया है। कवि एवं काव्य का परिचय देते हुए ये कहते हैं—

> ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः संस्कारशुद्धोऽभिधा,
> भक्तिर्व्यक्तिविशिष्टरीतिरुचितैरर्थैर्धृतालङ्कृतिः।
> वृत्तस्थः परिपाकवानविरसः सद्वृत्तिप्राकृतः,
> शस्यः कस्य न सत्कविर्भुवि यथा तस्यैव सूक्तिक्रमः।।[1]

अर्थात् महा तेजस्वी, अतीव मधुर, श्रीशङ्कर की कृपा से अतीव निर्मल संस्कारों से संस्कृत, गुरुओं की भक्ति एवं प्रख्याति से विश्रुत, कीर्ति, सत्पुरुषार्थ से उपार्जित धनसम्पत्ति वाला, सदाचारी, सरस सत्कवि लोक में अतीव विश्रुत होता है। उस कवि का काव्य भी माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों से सम्पन्न हो, संस्कार यानी लोक, शास्त्र और काव्यादि के परिशीलन से उत्पन्न हुयी व्युत्पत्ति द्वारा विशुद्ध हो, अभिधा लक्षणा और व्यंजना से विशिष्ट वैदर्भी आदि रीतियों से समन्वित हो, वाच्य लक्ष्य और व्यङ्ग्यार्थ के उचित प्रवाह के साथ–साथ शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कारों से अलङ्कृत हो तथा वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि सुन्दर वृत्तों से विभूषित होकर कौशिकी आदि वृत्तियों पर अवलम्बित हो तो सामाजिकों के हृदय का हार बनता है।

इसी प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तोत्र में कवि ने अपने निरहङ्कार एवं विनम्रता का प्रदर्शन करते हुए कहा है कि यद्यपि यह मेरी स्तुतिकुसुमाञ्जलि लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ से रहित है। माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि गुणों से सर्वथा अस्पृश्य होकर शृङ्गारादि रसों के अभाव में अत्यन्त नीरस है। स्थलकमल के समान शुष्क एवं सर्गबन्ध से रहित है। फिर भी मनसा, वाचा एवं कर्मणा शिव में दत्तचित्त, भक्ति की धारा में निमज्जित होकर जो कुछ भी लिखा है, उसे सहृदय लोग सुनने की कृपा करेंगे—

> अन्तःशून्यं गुणविरहितं नीरसं सर्गहीनं,
> काव्यं हृद्यं ननु सुमनसां न स्थलाम्भोरुहाभम्।
> तत्रापीशः श्रवणपुलिने गाढरागानुबन्ध–
> प्रोद्यद्भक्तिः प्रगुणितमदः कर्तुमर्हत्यगर्हम्।।[2]

प्रथम स्तोत्र के तीसरे पद्य में अपने काव्य की प्रशंसा करते हुए कवि ने अपने काव्य की तुलना पतिव्रता स्त्री से की है। कवि कहता है कि जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपनी सुन्दरता, सुशीलता, विनम्रता एवं सच्चरित्रता आदि निर्मल आचरणों, मनोहरता, दया, दाक्षिण्य आदि उज्ज्वल गुणों एवं बाह्य आभूषणों से सुसज्जित होकर अपने स्वामी को

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/31.
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/30.

अनुरंजित करती रहती है। उसी प्रकार वैदर्भी आदि रीतियों से रमणीय शब्दगत एवं अर्थगत दोष से रहित, माधुर्य ओज और प्रसाद गुणों से सम्पन्न, अच्छे-अच्छे छन्दों से सुन्दर, शान्त एवं भक्ति आदि रसों से मनोज्ञ वक्रोक्तिमयी, अलङ्कारों से विभूषित यह मेरी सरस्वती मेरे स्वामी श्रीसदाशिव को अपने वश में कर ले या अनुरंजित करे—

रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला
चारुवृत्तरचिरा रसान्विता।
रञ्जयत्वियमलङ्कृता मनः
स्वामिनः प्राणयिनी सरस्वती।।[1]

महाकवि ने उपर्युक्त इन तीनों पद्यों में काव्य के गुणों एवं दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया है। यों तो कवि का प्रतिपाद्य, काव्य का स्वरूप निर्धारण करना नहीं, बल्कि शिव की स्तुति करना है। तथापि प्रसंगतः इन्होंने जो भी अपनी कृति के सम्बन्ध में, विधि या निषेध-मुखेन लिखा है उससे यह ध्वनित होता है कि कवि की दृष्टि में वही शब्दार्थ समूह काव्य है, जो दोषों से सर्वथा रहित हो, गुणों से समन्वित हो, वैदर्भी आदि रीतियों का सद्भाव हो, काव्य के मूलतत्त्व के रूप में रस की पूर्णरूपेण सत्ता हो एवं जिसे शब्दार्थालङ्कार पदे-पदे सुशोभित करते हों।

आलंकारिकों के काव्य-लक्षण की अपेक्षा श्रीजगद्धरभट्ट द्वारा निर्दिष्ट काव्य-लक्षण की विशेषता यह है कि जहाँ काव्यशास्त्र के आचार्यों ने काव्य के शब्दार्थ-शरीर और उसकी आत्मा, रस के परिपोषक गुण-अलङ्कार तक ही अपनी गवेषणा को सीमित रखा, वहीं कवि ने काव्य के उपादेय सभी तत्त्वों का, जैसे छन्द, रीति, गुण, रस, वृत्तियाँ एवं सत्य कथावस्तु को आवश्यक बतलाया है।

काव्य हेतु

साहित्य शास्त्र में मम्मट आदि आचार्यों ने शक्ति, निपुणता एवं अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का कारण माना है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।[2]

परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर श्रीजगद्धरभट्ट का सिद्धान्त इससे कुछ पृथक् प्रतीत होता है। ये काव्य-निर्माण का मूल कारण प्रतिभा को मानते हैं। स्तोत्र-काव्य के एकादश स्तोत्र में अपनी निरभिमानिता का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं, "मैं अनेक प्रकार से नीच व्यक्ति हूँ। मेरे पास प्रतिभा नाम की कोई वस्तु नहीं है और प्रतिभाहीन व्यक्ति काव्य का निर्माण नहीं कर सकता—

मुक्तस्य मे प्रतिभयातिभयाकुलस्य।
वाणी कथं विगलतो गलतोभ्युदेति।।[3]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/5.
2. काव्यप्रकाश, 1/3
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/8

पञ्चम स्तोत्र में कवि और काव्य की प्रशंसा करते हुए इन्होंने कवि के लिए जिन गुणों को आवश्यक बतलाया है उनमें संस्कार, गुरुओं में भक्ति एवं अभ्यास और निपुणता की ओर संकेत किया है।[1] इस तरह विचार करने से ज्ञात होता है कि काव्य के हेतु के रूप में आचार्य मम्मट ने जिन शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास को काव्य का कारण माना है वे ही काव्य के हेतु श्रीजगद्धरभट्ट को भी अभिप्रेत हैं। भेद मात्र इतना ही है कि मम्मट इन तीनों को समुदित कारण मानते हैं और ये काव्य का मुख्य कारण प्रतिभा को मानते हैं एवं अन्य दो को गौण। जिस प्रकार मम्मट ने शक्ति के सम्बन्ध में "शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्"[2] कहा। उसी प्रकार ये भी कवित्व-शक्ति को दैवी कृपा से प्राप्त मानते हैं—

> प्राप्ता कल्पलतेव चेद्भगवती वागीश्वरी कैरपि
> प्राक्पुण्यैः स्वपरोपकारकरणप्रौढा पुनर्दुर्लभा।
> अज्ञैस्तज्ज्ञजनोपदेशविहितावज्ञैर्दुराशाहतै-
> रस्ता दुर्मदकर्दमे फलति किं पापं सशापं विना।।[3]

स्तोत्र-काव्य

स्तुञ् धातु से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से स्तोत्र शब्द की निष्पत्ति होती है।[4] 'स्तूयतेऽनेनेति स्तोत्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार छन्दोबद्ध भाषा में अपने आराध्य के गुणों का गान करना ही स्तोत्र-काव्य का अभिप्राय है। स्तुति और स्तव शब्द भी स्तोत्र के समानार्थक ही हैं।

इस सम्बन्ध में नेमीचन्द्र शास्त्री ने लिखा है, "स्तोत्र शब्द स्तु+ष्ट्रन् से बना है। स्तोत्र के पर्यायवाची स्तुति और स्तव शब्द भी माने जाते हैं। इन दोनों शब्दों की निष्पत्ति स्तु+क्तिन् तथा स्तु+अप् से हुई है। मलयगिरि ने व्यवहारभाष्य में स्तुति और स्तव में अन्तर बतलाते हुए लिखा है—

> एगदुगतिसिलोया थुत्तिओ अन्नेसि होइजा सत्त।
> देविदत्थयमादी तेणंतु परं यथा होई।।

> एकश्लोकः द्विश्लोकौ त्रिश्लोकाः वा स्तुतिर्भवति। परतश्चतुः श्लोकादिकः स्तवः। अन्येषामाचार्याणां मते न एकश्लोकादिसप्तश्लोकपर्यन्ता स्तुतिः। ततः परमष्टश्लोकादिकाः स्तवाः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/3
2. काव्यप्रकाश, 1/3 की वृत्ति
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/32
4. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, 3/2/182
5. व्यवहारभाष्ये, उ.गा. 183

स्तव और स्तोत्र में भेद बतलाते हुए लिखा है, "स्तव गम्भीर अर्थ वाला और संस्कृत भाषा में निबद्ध किया जाता है तथा स्तोत्र की रचना विविध छन्दों द्वारा प्राकृत भाषा में होती है—

सक्कयमासाबद्धो गम्भीरत्थोऽथओति विक्खाओ।
पाइयमासाबद्धं थोत्तं विविहेहि छड्डेहि।।[1]

पर, स्तोत्र और स्तव का यह संविधान आरम्भ में भले ही रहा हो आगे नहीं रहा है। समन्तभद्र (वि.सं. 2 शताब्दी) ने संस्कृत में ही स्तोत्रों की रचना की है।[2]

वाचस्पत्य कोष में भी 'स्तोत्र=न॰-स्तु-ष्ट्रन् स्तवे गुण-कर्मादिभिः प्रशंसने...' ऐसा कह कर स्तोत्र के चार प्रकार बतलाये गये हैं—

द्रव्यस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च।
तथैवाऽभिजनस्तोत्रं स्तोत्रमेतच्चतुष्टयम्।।[3]

संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ में भी स्तोत्र और स्तुति को समानार्थक ही माना गया है, "स्तोत्र, प्रशंसा, स्तुति, विरुदावलि, प्रशंसात्मक गीत या कविता, स्तुत्यात्मकश्लोक। आदि"[4]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाकवि ने भी स्तुति, स्तव और स्तोत्र शब्द को समानार्थक ही माना है। स्तोत्र-काव्य में इन्होंने स्तुति के ही अर्थ में स्तव और स्तोत्र शब्द का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं। नवम स्तोत्र में स्तुति शब्द का प्रयोग है, 'भक्तिः स्तुतिस्तवकृतेयमतः सुभक्तिः'[5] स्तव शब्द का प्रयोग भी कवि ने अनेक स्थलों पर किया है—

मनोज्ञतां बिभ्रति कस्य न स्तवाः
स्तवावली वक्त्ररोरुहे सताम्।।[6]

इसी प्रकार स्तुति के अर्थ में ही कवि ने स्तोत्र शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु ज्ञातव्य यह है कि पूरे स्तोत्र-काव्य में स्तुति के लिए 'स्तोत्र' शब्द का प्रयोग एक जगह है। वंश वर्णन में दो स्थलों पर स्तोत्र शब्द का प्रयोग कवि ने किया है—

देवस्य स्मरशासनस्य यदिमाः स्तोत्रावली सूक्तयः।।
मिथ्यास्तोत्रपरम्पराभवभुवं नीतासि भीतास्यतः।।[7]

इससे यह सिद्ध है कि कवि ने भी स्तुति, स्तोत्र और स्तव में कोई भेद नहीं माना है। कवि ने इस स्तोत्र-काव्य को भाव काव्य भी कहा है। भाव काव्य मुख्यतः भगदवद्विषयक

---

1. 851, श्री शान्तिसूरि, चेइयवंदण महाभासः जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर, वि.सं. 1977, पृ. 150
2. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. 55
3. शब्दवाचस्पत्यम्, प. 10 5342
4. संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, 1295, पञ्चम संस्करण, 1989
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/50, इसके अतिरिक्त 12/2, 15/3, 26/30
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/14, 15, इसी तरह 33/1, 38/16, 17; 19 आदि
7. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, वंशवर्णनम्, 13, 16

अनुराग से परिबृंहित होता है। रागात्मिका प्रवृत्ति एवं जागतिक विषयों से पृथक् होकर अपने-अपने आराध्य के श्रीचरणों में अपने को समर्पित कर देना ही स्तोत्र-काव्य का प्रतिपाद्य है। अपने स्तोत्र-काव्य की प्रशंसा करते हुए कवि ने काव्य की रस प्रवणता को अमृत से भी उत्कृष्ट बतलाया है—

द्राक्षा साक्षादमृतलहरी कर्कशात्काष्ठकोशाद्
भूरिच्छिद्रात्प्रकृतिमधुरा मूर्च्छना वंशगर्भात्।
सूक्तिव्याजान्मम च वचनात्कर्णपेया सुधेयं
निर्गच्छन्ती जनयति न कं विस्मयस्मेरवक्त्रम्।।[1]

काव्य में अनुभूति की प्रधानता होती है। कवि अपने मन के सौन्दर्य बोध को कला के माध्यम से व्यक्त करता है। रसपोष के लिए वह अपनी अनुभूति को जितनी तल्लीनता से झांकता है रस प्रवाह उतना ही तीव्र होता है। प्रकृत स्तोत्रकाव्य में काव्य रचयिता ने जिस रस को जितनी गहराई तक ले जाना चाहा है, उसमें पूर्णतः सफल हुआ है। तभी तो अपनी कृति को शिव की भक्ति रस से परिपूर्ण होने के कारण निःसंदेह उत्कृष्ट मानता है—

राकेन्दोरपि सुन्दराणि हृदयग्राहीणि बालाङ्गना-
मुग्धालापकथामृतादपि परं हारीणि हारादपि।
अप्युत्तालशिखालबालवचसः सम्पूर्णकर्णामृत-
स्यन्दीनि त्रिजगद्गुरोः स्तुतिकथासूक्तानि पुष्णन्तु वः।।[2]

स्तोत्र-काव्य होने के कारण कथावस्तु की न्यूनता के बाद भी वर्णन में रोचकता है, गेयता है। कुसुमाञ्जलि का एक काव्यात्मक मूल्य है, शब्द योजना या शब्द वैचित्र्य। जिनके द्वारा सौन्दर्य की प्रतीति होती है। नैसर्गिकी प्रतिभा और कल्पना का उदात्त मिश्रण सरस काव्य का आवश्यक तत्त्व है, जिसका कवि ने पूर्णतः निर्वाह किया है—

याता गुणैरुपचयं विमला प्रकृत्या,
नैसर्गिकीं परिणतिं प्रथमां वहन्ती।
बुद्धिः सतां शशिकलामुकुटप्रसादाद्
वाणी न च क्वचिदपि प्रतिघातमेति।।[3]

कवि ने स्तोत्र-काव्य के लिए काव्यानुभूति, रसानुभूति, भावानुभूति और विलक्षणानुभूति को आवश्यक माना है। शब्दार्थविद् को सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना प्राप्त नहीं होने पर वह सत्काव्य की रचना नहीं कर सकता। कवि ने तो यहाँ तक कह डाला है कि सत्काव्य वही है जिसमें शब्दार्थ-ज्ञान शून्य पाठक भी रस का आस्वादन कर सके—

शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि,
यां मूर्च्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 17/2
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/58
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/11, 12

संरुद्धसर्वकरणप्रसराः भवन्ति
चित्रस्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्तान्।।[1]

कुसुमाञ्जलि कवि के भावोदधि के मन्थन का प्रतिफलन है, जिसमें शिव भक्ति रूप अमृत निर्बाध रूप से प्रवाहित होकर जनमानस को भक्ति-भाव पूरित कर देता है।

काव्य प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' के अनुसार सभी कार्य सोद्देश्य किए जाते हैं। संस्कृत साहित्य में काव्य निर्माण या काव्य पाठ लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के फलों को प्रदान करता है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में दृष्टादृष्ट छह प्रयोजनों को प्रतिपादित किया है—यश:प्राप्ति, अर्थप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अमंगलनाश, शीघ्र आनन्दप्राप्ति और कान्तासम्मितोपदेश—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।[2]

उपर्युक्त काव्य के छहों प्रयोजनों पर विमर्श करने से ज्ञात होता है कि मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजनों में कुछ फल कवि के लिए, कुछ पाठक के लिए और कुछ कवि तथा पाठक दोनों के लिए हैं। यश:प्राप्ति एवं अर्थप्राप्ति ये दो फल मात्र कवि के लिए, व्यवहारज्ञान, परमानन्दप्राप्ति और कान्तासम्मितोपदेश ये तीन फल मुख्य रूप से पाठक के लिए। इनके अतिरिक्त अमंगल का नाश, यह एक फल कवि और पाठक दोनों के लिए निर्धारित है। मयूरभट्ट द्वारा सूर्यशतक लिख कर कुष्ठ रोग से निवृत्ति पाना एवं अनेक भक्तों द्वारा उसका पाठ कर अपने दुःख से विनिर्मुक्त होना इसका निदर्शन है।[3]

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि स्तोत्र-काव्य का मुख्य प्रयोजन आनन्दप्राप्ति और शिवेतरक्षति ही है, क्योंकि भक्ति के अतिरेक में व्यक्ति भावों की वीथि सजाता है और वही कवि का सहज भाव स्तोत्र का रूप ले लेता है। प्रस्तुत ग्रन्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि श्रेष्ठ स्तोत्र ग्रन्थ है। अतः इसका भी यशः प्राप्ति और अर्थ प्राप्ति आदि प्रयोजनों के साथ-साथ मुख्य रूप से अमंगलक्षति और आनन्दप्राप्ति ही उपादेय है।

स्तोत्र-काव्य में समर्पण का भाव होता है और समर्पण में ही आनन्द का बीज निहित है। स्वतन्त्र कवि के स्वच्छ हृदय में भावों की उत्पत्ति होती है, जिसे भक्त हृदय परमानन्द की प्राप्ति हेतु स्वच्छन्दतापूर्वक अपने इष्टदेव के सम्मुख निवेदित करता है।

भावातिरेक ही स्तुति काव्य का जीवन है। इसमें वस्तु तत्त्व तो नगण्य होता है परन्तु भाव तत्त्व की निर्मल धारा प्रवहमान रहती है। हृदयोद्गार गेयता से समन्वित होकर काव्य का सृजन करते हैं। प्रायः समस्त अनुभूतियों के आत्माभिव्यंजन प्रधान होने से इसमें जीवन तत्त्व की सघनता समाविष्ट हो जाती है। संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध आलोचक प्रो. ए.बी. कीथ

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/17
2. काव्यप्रकाश, 1/2
3. काव्यप्रकाश, 1/2 की वृत्ति

ने स्तोत्रों को धार्मिक गीत या कविता का अभिधान दिया है। उन्होंने लिखा है, "...और स्वाभावत: उच्च स्तर की कविता ने इस क्षेत्र को भी आक्रान्त किया। दार्शनिकों द्वारा उन देवताओं के विषय में वास्तविकता को जितनी व्यावहारिक दृष्टि से लिया, उतनी ही दृढ़ता से उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से भी स्वीकार किये। स्तोत्र रचना में भाग लेने की प्रवृत्ति ने इस कला को और अधिक गरिमा प्रदान की थी...।"[1]

दार्शनिक दृष्टि से स्तुति के अन्त:तल में प्रवेश करने पर अवगत होता है कि मनुष्य को कर्म की प्रेरणा भाव केन्द्र से प्राप्त होती है। भावना ही उसे बाह्य दर्शनीय पदार्थों को देखने के लिए प्रेरित करती है। स्तुति काव्य में आत्माभिव्यंजन का अभिनिवेश उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और हृदय के विविध भाव नाद माधुर्य से भावित होकर संगीत ध्वनि के रूप में प्रतिध्वनित होते हैं। भारतीयदर्शन का भी प्रतिपाद्य विषय दुःख की आत्यन्तिक विनिर्मुक्ति ही है। आधिदैहिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन त्रिविध तापों के प्रशमनपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति में ही दार्शनिक विवेचनों की परिणति है। स्तुति के द्वारा भी भक्त ईश्वर सन्निधान या तदाकाराकारित होने के लिए कृपा चाहता है। यह भक्त का अन्तर्भाव है और वैखरी वाणी उस भक्त की अन्त:चेतना में उद्भूत भावों का मूर्त रूप। जनन-मरण की समस्याओं में उलझा हुआ मनुष्य जब ऐकान्तिक चिन्तन करता है तो उसका अहं भाव उसे ही दीखने लगता है और वह व्यथित हो जाता है, फलस्वरूप उसके हृदय का तार-तार झंकृत होकर वेदना विगलित पुकार करने लगता है, जिसमें नैसर्गिकता होती है, गेयता होती है। अहं की पीठिका से अति दूर निश्चल, निर्बल उसकी चेतना आर्त्तनाद करती है, जो स्तोत्रमय होता है, गीतिमय होता है।

स्तोत्र-काव्य में कवि भौतिकता से ऊपर उठा होता है, क्योंकि इस धरातल तक आते-आते उसका अपना कुछ नहीं शेष रहता, शेष रहती है केवल करुणा। जिसे वह प्रभु के चरणों में स्तोत्र के माध्यम से निवेदित करता है। जहाँ पर अपने सामर्थ्य का पूर्ण विराम होता है वहीं से दैवी शक्ति का आयाम होता है। दृष्टान्त के लिए कुछ पौराणिक कथाएँ ली जा सकती हैं।

मार्कण्डेय मुनि की आयु बाल्यवस्था में ही पूर्ण हो गई। उन्हें यमदूत ले जाने लगे। यमदूतों से मुक्ति पाने में असमर्थ बालक अपने त्राण के लिए आशुतोष श्रीसदाशिव के श्रीचरणों में लिपट कर आराधना करने लगा। पुकार में करुणा की आर्द्रता थी। भावभीनी नवीन चेतना उमड़ कर प्रभु के समक्ष आयी, फलस्वरूप मृत्युञ्जयत्व प्राप्त हुआ।[2]

श्रीमद्भागवत का गजेन्द्र मोक्ष भी ऐसी ही विपदा के सागर में निमज्जित अहंकारी जीव की निरहंकारी चीत्कार-कथा है। बल और यौवन के असीम मद से बोझिल गजेन्द्र जलावगाहन करने हेतु सरोवर में जाता है वहाँ ग्राह उसे पकड़ कर खींचने लगता है। अथक परिश्रम के बाद भी वह छुटकारा पाने में असमर्थ होकर सर्वशक्तिमान की पुकार करता है, वहीं उसके

---

1. अनु. मंगलदेव शास्त्री — संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 120
2. मार्कण्डेय पुराण, 1/4/3

अहंभाव का तिरोभाव एवं सर्वसमर्थ का आविर्भाव होता है। प्रभु उसके करुण क्रन्दन की निष्कलुषता को देख कर उसकी रक्षा करते हैं।[1]

श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार की अनेक स्तुतियाँ हैं, जिनमें ध्रुवकृत भगवत्स्तुति, द्रौपदीकृत कृष्णस्तुति आदि प्रसिद्ध हैं।

महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट की कृति स्तुतिकुसुमाञ्जलि श्रीसदाशिव के चरणों में समर्पित एक वेदना विगलित उच्छ्वास है, जिसका मूल प्रयोजन सुखोपलब्धि अथवा परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है। कवि ने उपर्युक्त छहों प्रयोजनों का संकेत कर अन्त में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति को ही स्तोत्र–काव्य का मूल प्रयोजन माना है। इसका संकेत कुसुमाञ्जलि के पञ्चम स्तोत्र के निम्नलिखित पद्य में किया गया है—

इह हि महिमा मायामोहप्ररोहतिरोहित–
त्रिजगदगदङ्कारः सारस्वतः प्रथते सताम्।
प्रभवति जरामृत्युव्याधिप्रबन्धनिबन्धन–
व्यसनजनितव्यापत्तापक्लमापगमाय यः।।[2]

अर्थात् जन्म, मृत्यु, आधि व्याधि के बंधन का अनुसंधान करने से उत्पन्न संताप को समूल नष्ट करने के लिए जो अत्यन्त समर्थ है, वह माया मोह से समावृत त्रिलोक का महाचतुर वैद्य समस्त अज्ञान को समूल नष्ट कर देने वाला है। इसी प्रकार कवि ने स्तोत्र–काव्य को मधुर रस को बहाने वाला, विपत्ति रूपी उपाधि को मंद करने वाला तथा संसार रूप मरुस्थल में भ्रमण करने से उत्पन्न हुए क्लेश को शान्त करने वाला बतलाया है—

मधुस्यन्दी मन्दीकृतविपदुपाधिर्भवमरु–
भ्रमक्लेशावेशप्रशमकमनीयो विजयते।
अखण्डश्रीखण्डद्रवनवसुधासारसरसः
प्रसादो वाग्देव्याः प्रवरकविकाव्यामृतवपुः।।[3]

कवि ने स्तुति के आनन्द को सर्वोत्कृष्ट आनन्द बताया है। इनका कहना है कि सुधा सहोदर अतिसुमधुर श्रीशङ्कर की स्तुति में जो आनन्द है, वह अमृतमय किरणों को धारण करने वाले चन्द्रमा के दर्शन में और गंगाजल के अवगाहन में भी नहीं है—.

सान्द्रानन्दकरे धृतामृतकरे नास्त्येष राकाकरे,
न प्रौढप्रसरे निसर्गशिशिरे स्वर्गापगानिर्झरे।
गाढप्रेमभरे स्मरज्वरहरे नोद्दामरामाधरे,
यः शम्भोर्मधुरे स्तुतिव्यतिकरे ह्लादः सुधासोदरे।।[4]

---

1. श्रीमद्भागवतम्, 5/11, 4/14/7/21
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/24
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/26
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/30

पञ्चम, स्तोत्र के अन्तिम पद्य में कवि ने स्पष्ट कह दिया है कि यह मेरी स्तुति शृङ्गार आदि रसों को आस्वादित करने वाले रसिकों को भले न प्रिय लगे, किन्तु मेरे सरीखे भव बाधा से पीड़ित लोगों को अवश्य अच्छी लगेगी—

एताः पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थामृतस्वादन-
क्रीडादुर्ललितं हरन्ति हृदयं वाचः कथं धीमताम्।
केषाञ्चित्पुनरीश्वरस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनां
यास्यन्ति स्पृहणीयतां भुवि भवक्लेशस्पृशां मादृशाम्।।[1]

अर्थात् इनकी बातों से यह स्पष्ट है कि स्तोत्र-काव्य का प्रयोजन मुख्य रूप से सामाजिकों को आनन्दित करना ही नहीं, प्रत्युत भवक्लेश को अशेष करना भी है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि ने लौकिक एवं पारलौकिक उभयविध प्रयोजनों का विवेचन किया है। चाहे काव्य रचयिता हो या काव्य पाठक, दोनों को दुःख की आत्यन्तिक विनिर्मुक्ति अभीष्ट होती है। सांसारिक जितने भी जीव हैं, उन सभी का परमोद्देश्य दुःख का सर्वथा नाश कर स्थिर सुख की प्राप्ति ही होता है। कवि द्वारा काव्य की रचना एवं पाठक द्वारा काव्य का श्रवण, पठन का उद्देश्य भी इससे भिन्न नहीं। कवि ने भी इसी भाव को लेकर अपने स्तोत्र-काव्य की रचना की है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि एवं उसकी टीकाएँ

स्तुतिकुसुमाञ्जलि महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट विरचित एक उत्कृष्ट स्तोत्र ग्रन्थ है जिसका शाब्दिक अर्थ है—स्तुति रूपी कुसुमों की अञ्जलि। जिसकी व्युत्पत्ति होगी—स्तुतय एवं कुसुमानि स्तुतिकुसुमानि, तेषामञ्जलिरिति स्तुतिकुसुमाञ्जलिः। स्तुञ् स्तुतौ धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय करने पर स्तुति शब्द निष्पन्न होता है।

नामकरण अन्वर्थ होता है। किसी वस्तु या ग्रन्थ आदि का नाम उस ग्रन्थ के अन्दर वर्णित वस्तु का सूत्रात्मक अभिव्यंजक होता है। महाकवि ने अपने स्तुति काव्य का नाम स्तुतिकुसुमाञ्जलि रखा, जिसका अर्थ है—स्तुति रूप पुष्पों की अञ्जलि। इस नाम के ऊपर यथामति विवेचन अपेक्षित है। विवेच्य यह है कि कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में पुष्पों की अञ्जलि प्रस्तुत नहीं की है, अपितु भगवान् शंकर के स्तुति पद्यों की संहति तैयार की है। इस दृष्टि से इस स्तोत्रग्रन्थ का नाम स्तुतिकुसुमाञ्जलि न होकर **'स्तुत्यवबोधिका पद्यसंहतिः'** ही उचित है। किन्तु साहित्य की दुनिया में अभिधा एक सामान्य वृत्ति है। ऐसा कोई भी वाक्य साहित्यिकों को रुचिकर नहीं होता, जिसमें रमणीयता या चमत्कार न हो। विदग्ध कविजन भङ्गी-भणिति को चमत्कार के लिए आवश्यक मानते हैं। इसीलिए महाकवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ के नामकरण में भी स्तुति में कुसुमों का आरोप किया तथा संहति को अञ्जलि का रूप दिया। इस प्रकार की व्यवस्था करने से नाम में सौन्दर्य आ जाता है और काव्यगत विषय भी प्रतिध्वनित होने लगता है। दूसरी बात यह है कि नाम में संहति शब्द माला आदि का भी

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/36

संदेह पैदा कर सकता है, परन्तु अञ्जलि पद में यह विशेषता है कि यह अपने पेट में स्तोत्र की मुक्तक काव्यता को समाहित किए हुए है। अर्थात् जिस प्रकार अञ्जलि में रखी हुई वस्तु आपस में एक दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं रखती, उसी प्रकार अञ्जलि रूप पुस्तक में रखी हुई स्तुति रूपी पुष्पों की राशि भी अपने में सम्बन्धित नहीं अपितु प्रत्येक पद्य अपना पूर्ण अर्थ लिए हुए है।

स्तुति में कुसुमों के आरोप में भी कुछ ऐसे ही भाव हैं। प्रश्न यह उठता है कि स्तुति में कुसुम का आरोप क्यों किया गया? क्या स्तुति अञ्जलि मात्र कहने से शीर्षक का निर्वाह नहीं हो सकता? इसका रहस्य यह है कि अञ्जलि में मूर्त आकार वाले पदार्थ ही लिए जा सकते हैं, अमूर्त नहीं। स्तुति अमूर्त है। वह अञ्जलि में नहीं आ सकती। इसीलिए उस पर कुसुमों का आरोप करना आवश्यक है। इस प्रकार स्तोत्र-काव्य 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' शीर्षक का ग्रथन महाकवि ने कुशलता और विवेक के साथ किया है।

ग्रन्थ के आभ्यन्तर में स्तोत्रों की एक लम्बी शृंखला है। सर्वप्रथम प्रस्तावना स्तोत्र की रचना की गई है। इसके द्वारा इन्होंने स्तोत्र-साहित्य का महत्त्व और उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। द्वितीय नमस्कारात्मक स्तोत्र है। प्रस्तावना के बाद नमस्कार की प्रक्रिया आती है। वैदिक काल से ही भक्त आराध्य के चरणों में अपना आत्म निवेदन प्रस्तुत करता आ रहा है और साथ ही अपने नमस्कार द्वारा आराध्य का महत्त्व स्थापित करता है। महाकवि जगद्धरभट्ट की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने उक्ति वैचित्र्य के द्वारा अपने भावों का निवेदन अत्यन्त सफलतापूर्वक किया है। काव्य में मुख्यत: चार प्रवृत्तियाँ होती हैं—

1. प्रशस्तिमूलक प्रवृत्ति
2. भक्तिभावनामूलक प्रवृत्ति
3. भोग और ज्ञान के समन्वय की प्रवृत्ति
4. प्रेम और शृंगार की प्रवृत्ति।

श्रीजगद्धरभट्ट ने अपनी स्तुतिकुसुमाञ्जलि में भारतीय काव्यशास्त्र की उक्त चारों प्रवृत्तियों का सतर्कतापूर्वक निर्वाह किया। इन्होंने नमस्कारात्मक स्तोत्र के अनन्तर कवि काव्य प्रशंसा नामक स्तोत्र की रचना की। यह स्तोत्र एक प्रकार से पञ्चस्तोत्र की अन्तिम कड़ी है। ऐसा अनुमान होता है कि ये आरम्भ में पाँच स्तोत्र ही लिखना चाहते थे। इसीलिए अन्तिम स्तोत्र के रूप में कवि-काव्य प्रशंसा स्तोत्र रचा गया। किन्तु विचार परिवर्तन ने इस स्तोत्र की महत्ता में थोड़ी न्यूनता ला दी। मेरी दृष्टि में इस स्तोत्र को किसी काव्य के अन्त में होना चाहिए था, इसका मध्य में आ जाना यह सिद्ध करता है कि पञ्चस्तोत्रात्मक कवि का पृथक् ग्रन्थ होना चाहिए, जो प्रस्तुत स्तुतिकुसुमाञ्जलि का एक अंग होगा।

हराष्टकस्तोत्र, सेवाभिनन्दनस्तोत्र, शरणाश्रयणस्तोत्र, करुणाक्रन्दनस्तोत्र, कृपणाक्रन्दन-स्तोत्र, दीनाक्रन्दनस्तोत्र, तम:शमनस्तोत्र और प्रभुप्रसादनस्तोत्र निश्चित रूप से क्रमानुसार ही सजाये गये हैं, क्योंकि सेवाभिनन्दन के पश्चात् शरणाश्रयण किया जाता है और आश्रय की कृपा चाही जाती है। कृपा प्राप्ति के दो साधन बताये गये हैं—

1. कृपणाक्रन्दन

2. करुणाक्रन्दन

इन दोनों साधनों का अवलम्बन करने से ही कृपा की प्राप्ति हो सकती है।[1] कृपा की प्राप्ति हो जाने पर तमः प्रशमन होता है और स्वामी का प्रसाद प्राप्त कर भक्त निहाल हो जाता है। इस प्रकार षष्ठ स्तोत्र से त्रयोदश स्तोत्र तक का क्रम बुद्धि संगत और वैज्ञानिक है।[2]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि का चतुर्दश स्तोत्र 'हित' नामक स्तोत्र है। हित प्राप्ति के तीन उपाय हो सकते हैं—

1. करुणा साधन

2. उपदेश प्राप्ति

3. भक्ति।

यही कारण है कि हितस्तोत्र के पश्चात् उक्त स्तोत्रों का क्रम स्थिर किया गया है। कुसुमाञ्जलि का अष्टादश स्तोत्र सिद्धि स्तोत्र है और सिद्धि कार्य के अन्त में ही मिलती है। जिस प्रकार महाकाव्य में फल की उपलब्धि अन्त में होती है, उसी प्रकार स्तोत्र-काव्य में भी सिद्धि की प्राप्ति स्तुति के अन्त में होती है। यदि स्तुतिकुसुमाञ्जलि को स्तुति महाकाव्य माना जाए तो मध्य में सिद्धि स्तोत्र का होना उचित नहीं। क्रम के अनुसार इसे अन्त में होना चाहिए। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन स्तोत्रों की रचना किसी एक समय में नहीं हुई है।[3] ये विभिन्न परिस्थितियों और समय में लिखी गई हैं, जिनका संकलनात्मक रूप यह स्तुतिकुसुमाञ्जलि है।[4]

भगवद्वर्णन और हसितवर्णन, ये दोनों ही स्तोत्र क्रमानुसार हैं। भगवान् के सामान्य रूप निर्धारण के अनन्तर ही उनके हास्य का वर्णन सम्भव है। इक्कीसवाँ अर्द्धनारीश्वरस्तोत्र भी क्रमानुसार ही सजाया गया है। भगवान् शंकर के अनेक रूपों में अर्द्धनारीश्वर रूप शृङ्गारमूलक एवं रहस्यास्पद है। हास्य, शृङ्गार का ही पोषक होता है। अतः उन्नीस, बीस और इक्कीस स्तोत्र भी युक्ति से विरुद्ध नहीं हैं। बाइसवें और तेइसवें स्तोत्र में यमक शैली में रचना कर कवि ने अपने शब्द-संयोजन सामर्थ्य को प्रदर्शित किया है।

इसी प्रकार नतोपदेश, शरणागतोद्धरण, कर्णपूर, अग्रयवर्ण और ईश्वर प्रशंसा स्तोत्र भी विषयानुसार ही रखे गये हैं। अन्त में स्तुति फल प्राप्ति, स्तुति प्रशंसा और पुण्य परिणाम स्तोत्र भी क्रमानुसार पिरोये गये हैं।[5] यतः फल प्राप्ति के पश्चात् प्रशंसा और पुण्य परिणति होती है। स्तवन करते-करते जब स्तोता की आत्मा पवित्र हो जाती है तो उसे अक्षय पुण्य

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, मूलपाठ के आधार पर
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, भूमिका के आधार पर
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, मूल पाठ के आधार पर
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, प्राक्कथन।
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, मूल पाठ।

लाभ होता है। इस पुण्य लाभ का वर्णन अन्तिम स्तोत्र में किया गया है। इस प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि में पिरोये गये सभी स्तोत्र-कुसुम इतने उपयुक्त हैं कि एक अञ्जलि में विभिन्न जाति के होकर भी शोभा का क्षणे-क्षणे परिबृंहण करते हैं।

प्रस्तुत स्तुति काव्य का भावना की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इसमें शब्द चमत्कार, अन्योक्ति, व्यंग्य और गेयता के साथ-साथ शैव दर्शन के सिद्धान्तों का निर्वचन भी बड़ी सफलता के साथ किया गया है। काव्य भावना, रस, भाव, अलङ्कार योजना तथा ध्वनि की दृष्टि से यह स्तोत्र-काव्य अति-महत्त्वपूर्ण है।

स्तुति साहित्य में प्रस्तुत ग्रन्थ का बड़ा ही आदर है। इसमें पौराणिक कथाओं, दार्शनिक सिद्धान्तों एवं शब्द व अर्थगत वैशिष्ट्य के कारण काव्य शोभा के आधायक सभी गुण पुंजीभूत हैं। कवि ने काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले तत्त्वों की ओर इशारा किया है—

काव्यं विभाव्य निजमर्धनिमीलितानि,
नैसर्गिकं जहति चापलमीक्षणानि।
गृह्णन्ति तन्मसृणतां सहजां विहाय
भ्रूवल्लयस्तु कृतिनां कविपुंगवानाम्।।[1]

कवि स्वयं अपनी रचना से सन्तुष्ट है। उसका विश्वास है कि उसके इस स्तुति काव्य में भावात्मिका प्रवृत्ति इतनी उत्कृष्ट है कि प्रत्येक शब्द भक्ति भाव और राग से परिपूर्ण हो कर साकार रूप में रस प्रवाहित करने लगता है।

एक स्थान पर स्तोता कवि ने शिव को अपनी मति का प्रियतम कहा है। मतिरूपी नायिका गुणवती होने पर भी महेश रूपी प्रियतम के हृदय में स्थान नहीं बना सकी, अत: वह विरह से व्याकुल होकर महादेव के भला अत्याचारों को सहन कर रही है।[2] कवि का यह संदर्भ किसी भी महाकाव्य के वर्णित प्रसंग से न्यून नहीं। यहाँ केवल रूपक अलङ्कारों की योजना ही नहीं है, अपितु भावों का अभिव्यक्तिकरण काव्य के परिप्रेक्ष्य में सरस रूप से सम्पन्न हुआ है।

संक्षेप में, कुसुमाञ्जलि संस्कृत साहित्य का एक आदरणीय स्तोत्र-काव्य है। इसमें रमणीयता है, क्योंकि पाठक जितनी बार पढ़ता है उसमें भावों की वीचि उतनी ही अधिक तरंगायित होती है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति,
तदेव रूपं रमणीयता सः।।[3]

कवि ने एक नयी मोड़ दी है। शैव स्तोत्रों में इस स्तोत्र-काव्य की विशेषता यह है कि इसमें यमकालङ्कारों के सन्निवेश के साथ-साथ रस के विशाल घट का उद्घाटन भी किया गया है। भक्ति और शान्त रस की गंगा यमुना सदैव ही प्रवहमान है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/14
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/45
3. शिशुपालवधम्, 1/30

स्तुतिकुसुमाञ्जलि की टीकाएँ

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों एवं शास्त्रीय ग्रन्थों की जितनी टीकाएँ उपलब्ध होती हैं उतनी स्तोत्र–काव्यों की नहीं। फिर भी स्तुतिकुसुमाञ्जलि की अनेक टीकाएँ हैं, जिनमें 'रत्नकण्ठ' की संस्कृत टीका और प्रेमवल्लभ त्रिपाठी का हिन्दी अनुवाद सम्प्रति उपलब्ध है। राजानक रत्नकण्ठ द्वारा विरचित 'लघुपञ्चिका' नाम की टीका प्राचीन और प्रसिद्ध है। इसकी रचना औरंगजेब के शासनकाल विक्रम संवत् 1738 में हुई।[1]

टीका के अन्त में टीकाकार ने अपना परिचय दिया है—

वस्वग्न्यत्यष्टभूमिर्वर्षे मिते विक्रमभूपतेः।
अवरङ्गमहीपाले कृत्स्नां शासति मेदिनीम्।।
बालानां सुखबोधाय हर्षाय विदुषां कृता।
जगद्धरकवेः काव्ये तेनैषा लघुपञ्चिका।।[2]

इन्होंने अपने को कश्मीर प्रदेश का निवासी और धौम्यायन कुल में जन्म लेने वाला विद्वान् कहा है—

द्विनभोष्टिमिते शाके धौम्यायनकुलोद्भवः।
काश्मीरदेशवास्तव्यो रत्नकण्ठाभिधः सुधीः।।
महेशचरणाम्भोजभावनारसभाविते।
जगद्धरकवेः काव्ये करोति लघुपञ्चिकाम्।।[3]

इनकी टीका में इनका प्रखर पाण्डित्य और गम्भीर चिन्तन पदे–पदे दृष्टिगत होता है।

कुसुमाञ्जलि के दूसरे स्तोत्र के बीसवें श्लोक की व्याख्या करते हुए रत्नकण्ठ ने लिखा है, 'यत्तु अन्यटीकाकारैः कमलाख्यं कुवलयम् इति व्याख्यातम् तत्प्रमादेन लिखितमपि तज्ज्ञैरनादरणीयम्'।[4]

इससे स्पष्ट है कि इनके पूर्व इस स्तोत्र–काव्य पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी थीं। इसी प्रकार कुसुमाञ्जलि के एक स्थल पर रत्नकण्ठ ने, 'खण्डः परशुरस्य जामदग्न्येन सह कुठारविनिमयात्' इति जिनेन्द्र कृतटीकायाम्[5] लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि कुसुमाञ्जलि का कोई 'जिनेन्द्र' नामक भी टीकाकार था।

प्रेममकरन्द टीका

पण्डित प्रेमवल्लभत्रिपाठी कृत प्रेममकरन्द वस्तुतः टीका नहीं, हिन्दी अनुवाद है। इसकी रचना वि.सं. 1995 में हुई।[6]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, संस्कृत टीका, भूमिका
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, पृ. 256
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, सं.टी. मंगलाचरणम्।
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15/37
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 14/40
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, हिन्दी भूमिका

अनुवादक ने भाषानुवाद का प्राक्कथन किसने लिखा है, यह स्पष्ट नहीं किया है और प्राक्कथन लेखक ने भी अन्त में 'कश्चिद्भिक्षुः' शब्द दिया है।[1]

अनुवादक ने कुसुमाञ्जलि के आरम्भ में पाँच पद्य लिखे हैं, जिनमें इन्होंने अपने हरिहरानन्द नामक गुरु का स्तवन किया है—

यद्वक्त्राम्बुजनिः सरन्मधुसुधाधारासु बद्धादरा
वीणायाः रणनं विहाय वदनाम्भोजे दधानाङ्गुलिम्।
वाग्देवी गतचापला चिरतरं सन्तिष्ठते मूकवत्
सोऽव्यान्मां भवभीतितो हरिहरानन्दाभिधः सद्गुरुः।।[2]

हरिहरानन्द, स्वामी करपात्री जी का नाम था। इससे ज्ञात है कि अनुवादक श्री करपात्री जी स्वामी के शिष्य हैं एवं सम्भव है कि स्वामी जी ने ही प्राक्कथन लेखन की कृपा की हो।

अनुवादक ने अपने सम्बन्ध में स्पष्ट परिचय नहीं दिया है फिर भी उपर्युक्त विवरणों से ज्ञात है कि ये काशी के ही प्रसिद्ध विद्वानों में एक हैं।

❑

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, प्राक्कथन।
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, हिन्दी अनुवाद का मङ्गलाचरण।

द्वितीय अञ्जलि : बाह्यपक्ष

स्तोत्रकाव्य का उद्भव एवं विकास

सृष्टि के आदि में मानव ने जब सर्वप्रथम आँखें खोली तो उसके सामने एक सुनहला दृश्य दिखायी पड़ा। जिसमें मानव ने नियमित रूप से सूर्य का उदय और अस्त, चन्द्रमा की स्वच्छ चाँदनी, पवन के इशारे पर झूमने वाले वनस्पतियों का थिरकन, कहीं आसमान को छूने वाली उत्तुङ्ग शिखर श्रेणियाँ और अगाध उदधि के चपल तरंगों का अवलोकन किया। इसने अपनी इच्छाओं की सफलता एवं असफलता का कारण रूप किसी अदृश्य सत्ता का अनुभव किया। फलस्वरूप उस अलक्षित शक्ति की कल्पना कर वह उसके समक्ष नत-मस्तक हुआ। उस अदृश्य सत्ता के प्रति मानव के श्रद्धा और विश्वास से समन्वित जो उद्गार निकले, वे ही स्तोत्र या स्तुतियों के पूर्व रूप थे।

लिखित रूप से उपलब्ध स्तोत्र-साहित्य का श्रीगणेश वेद से ही हुआ। तत्पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत एवं पुराणों में भी स्तोत्र-साहित्य की धारा निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही। वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की कोमल एवं कठोर दोनों तरह की शक्तियों का आश्चर्य और कुतूहल के साथ अवलोकन किया। उनके अलौकिक प्रभापुंज को देखकर उन शक्तियों में दिव्यत्व एवं देवत्व का आरोप कर समय-समय पर अपने योग-क्षेम की कामना से आवाहन किया एवं कृपा की भीख माँगी। उनकी आशा-निराशा, हर्ष-विषाद एवं सुख-दुःख इन दिव्य आत्माओं से सम्बद्ध हो गये और जहाँ कहीं इनकी भावनाओं का प्रसार होता वहाँ दिव्य आत्मायें इनके कार्यों में हाथ बढ़ाने जरूर आतीं। आर्यों के प्रत्येक कार्य में प्राकृतिक शक्तियाँ कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग करती हुयी दिखीं। वैदिक वाङ्मय में ऊषा, अग्नि, रुद्र एवं वरुण आदि इसी प्रकार के देवता हैं, जिनका वैदिक ऋषियों ने कभी सकाम भाव से और कभी निष्काम भाव से स्तवन किया है।

ऋग्वेद में ऊषा का चित्रण अत्यन्त शालीनता के साथ किया गया है। एक स्थल पर उपमाओं की माला से वैदिक ऋषि ऊषा को अलङ्कृत कर देता है—

> अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची,
> गर्ता रुगिव सनये धनानाम्।

जायेव पत्य उशती सुवासा,
उषा हस्रेव निरणीते अप्सः।।[1]

अर्थात् भ्रर्तृहीन स्त्री जिस प्रकार निराश्रित होकर अपने माता-पिता के पास वापस चली जाती है। जिस प्रकार कोई विधवा धन प्राप्त करने के लिये न्यायालय चढ़कर जाती है। उसी प्रकार सुन्दर वस्त्र पहनकर पति की इच्छा करने वाली यह ऊषा हँसती हुई अपनी सुन्दरता को प्रकट करती है। दिन के होते ही यह ऊषा समाप्त हो जाती है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि ऊषा की कमनीय कान्ति को देखकर आनन्दातिरेक से झूम उठता है और प्रश्न करता है—हे आलोकमयि ऊषे! अभिमत फल को देने वाले सूर्य के पास तुम स्मितवदना युवति की तरह या कमनीय कन्या के समान सुसज्जित होकर जाती हो। देखिए-

कन्येव तन्वा शाशदाना,
एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्ता-
दाविर्वक्षांसि कृणुसे विभासि।।[2]

यहाँ पर कवि ने ऊषा का मानवीकरण किया है। इसी तरह एक अन्य स्थल पर विशाल क्षितिज के निःसीम वक्षःस्थल पर स्वर्णिमच्छटा बिखेरने वाली ऊषा का साक्षात्कार कर कवि मुग्ध हो जाता है और उसकी सरस वाणी पुकार उठती है—हे कान्तिमयि ऊषे! तुम स्वर्णिम स्यन्दन पर आरुढ़ हो कान्ति का विकास करो, उदीयमान तुम्हें देख पक्षिगण सुन्दर वाणी में तुम्हारा गान करते हैं। सुवर्ण की तरह पीताभ अश्व तुम्हारा वहन करे—

ऊषो देवमर्त्या विभाहि
चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आ त्वा वहन्तु सुप्रभासो अश्वा
हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।।[3]

वैदिक देवताओं में इन्द्र परमैश्वर्यशाली देवता है, वह सारे संसार का शासक है—

इन्द्रमीशानमोजसा अभिस्तोमा अनूषत।[4]

वैदिक ऋषि अपने योगक्षेम की भावना से इन्द्र की पुकार करता है—हे प्रभु! हमें समस्त द्वेषों से दूर कर दो, जिससे हम शान्तिपूर्वक (स्वस्ति) कल्याण की नौका पर आसीन हो इस भव-सागर को पार कर सकें—

सनः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः।।[5]

---

1. ऋग्वेद-मण्डल 1, अध्याय-124, ऋचा-7
2. ऋग्वेद, 1/23:10.
3. वही, 3/61/2.
4. वही, 1/1/8.
5. ऋग्वेद, 8/16/11.

अग्नि की भी स्तुति ऋग्वेद में पर्याप्त रूप से मिलती है, जिनमें स्तुति काव्य के सभी नियमों का पूर्णतया दर्शन होता है। वैदिक ऋषि कहता है कि हे अग्निदेव! हम प्रतिदिन नतमस्तक होकर श्रद्धा और भक्तिभाव के साथ आपके चरणों में उपस्थित रहें, ऐसा आशीर्वाद दो—

उप त्वा ग्ने दिवे-दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।[1]

हे परम प्रकाशमय ज्ञानिन्! आप मेरी आयु को पवित्र करें, सुख और स्वच्छ अन्न प्रदान करें, दुःख, लोभ आदि बाधाओं से दूर रखें—

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च न।
आरे वाधस्व दुच्छुनाम्।।
अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पौषम्।।[2]

हे अग्निदेव! धन सम्पत्ति से सम्पन्न मार्ग पर ले चलो। मेरे अन्दर जागृत होने वाली पापात्मिका प्रवृत्ति को हटा दो, सन्मार्ग पर चलते हुये हम आपकी स्तुति करें। ऐसा वरदान हमें प्रदान करो—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यास्माजुराणा
मेनो भूयिष्ठांस्ते नम उक्तिं विधेम।।[3]

इसी प्रकार रुद्र सम्बन्धी स्तोत्र भी वेद में पर्याप्तरूपेण मिलते हैं। अनेक स्थलों पर इनके शारीरिक संगठनों की विशेषता बतलाई गयी है। इनकी भुजायें दृढ़ और सन्नद्ध हैं—

स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो।
बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।।[4]

इनके हजारों नेत्र हैं—

अस्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणाद्यर्कघातिना तेन मा समरामहि।।[5]

वे नीलकण्ठ हैं—

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।[6]

कल्याणकारी शरीर वाले वे शिव पर्वतों पर निवास करते हैं—

---

1. वही, 1/1/7.
2. वही, 9/66/19, 9/66/21.
3. यजुर्वेद, 40/16.
4.
5. अथर्ववेद, 11/2/7.
6. वाजसनेयी संहिता, 16/ 7.

यातेरुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि।।[1]

यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी अनेक स्थलों पर अनेक देवों की स्तुतियाँ की गयी हैं। जिनमें स्तोत्रकाव्य के सभी तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। वैदिक साहित्य में रुद्र एक ऐसे देवता हैं, जिन्हें ऋषि कभी शत्रु विनाश के लिये प्रार्थना करता है और कभी व्याधियों से पीड़ित होने पर वैद्य के रूप में आह्वान करता है—

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
मानस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु
मानो अश्वेषुरीरिषः। मा नो वीरान् रुद्र-
भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमि त्वा हवामहे।।[2]

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य अनेक देवों के सारगर्भित स्तोत्रों से परिलसित है। आचार्य बलदेवउपाध्याय ने वैदिक साहित्य की विवेचना करते हुये लिखा है—"सबसे प्राचीन और सरल पूजा-पद्धति प्रार्थना थी, जो सर्वसुलभ थी। वेदों के सूक्त और मन्त्र वस्तुतः इन्हीं प्रार्थनाओं के संग्रह हैं। इनसे देवता प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते थे।"[3]

ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में भी स्तोत्रकाव्यों के सुन्दरतम उदाहरण मिलते। विशेषकर अग्नि, प्राण एवं रुद्र की स्तुतियाँ अनेक उपनिषदों में उपलब्ध हैं। यहाँ पर रुद्र को सर्वव्यापी एवं एक माना गया है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः।[4]

इस रुद्र को अंगुष्ठमात्र प्रमाण, हृदय में रहने वाला एवं असंख्य शिर और पैरों वाला बतलाया गया है।

लौकिक संस्कृत भाषा में वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण आदि काव्य है। इसमें भी स्तुतियों की परम्परा उत्तरोत्तर विकसित होती हुयी प्रतीत होती है। दैत्यों के आतंक से खिन्न देवताओं द्वारा की गयी ब्रह्मा की स्तुति,[5] ब्रह्मा द्वारा की गयी विष्णु की स्तुति[6] एवं वृत्रासुर को मारने के लिये इन्द्र के द्वारा की गयी विष्णु की स्तुति[7] आदि प्रसिद्ध हैं।

महाभारत का संस्कृत वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे पांचवाँ वेद भी कहा गया है—'महाभारतं नाम पञ्चमो वेदः' इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का व्यापक विवेचन है।[8] श्रीवेदव्यास ने इसमें अनेक स्तोत्रों की रचना की है, जिनमें श्रीमद्भगवद्गीता एवं

---

1. वाजनेयी संहिता, 16/2.
2. यजुर्वेद, 16/8, 16/6.
3. वैदिक साहित्य का इतिहास, भाग-1, खण्ड-3, अध्याय-1, पृ. 423.
4. श्वेतश्वतरोपनिषद्, 3/2, 3/11, 13, 14.
5. बालकाण्ड, वाल्मीकि रामायण, 15/6, 11.
6. वही, 15/14,15.
7. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 10/16.
8. महाभारत-आदिपर्व, 63/53.

विष्णुसहस्रनामस्तोत्र आदि प्रसिद्ध हैं।[1] महाभारत में अश्वत्थामाकृत शिवस्तुति स्तोत्रसाहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें कुछ स्थल देखे जा सकते हैं। अश्वत्थामा कहता है—हे प्रभो! आप उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र सर्व, ईशान और गिरीश आदि नामों से प्रसिद्ध, सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर हैं।[2] इसी प्रकार श्रीकृष्ण एवं अर्जुन द्वारा की गयी शिवस्तुति भी उल्लेखनीय है—

नमो भवाय सर्वाय रुद्राय वरदाय च।
पशूनां पतये नित्यमुग्राय च कपर्दिने।।
महादेवाय भीमाय त्र्यम्बकाय शिवाय च।
ईशानाय मखघ्नाय नमोऽस्त्वन्धकघातिने।।[3]

श्रीवेदव्यास विरचित श्रीमद्भागवत पुराणसाहित्य–माला का सुमेरु है। इसमें भाषा का उत्कर्ष है और भावों की गहराई भी। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय में जिस स्तोत्र का बीजन्यास हुआ; उसके परिणामस्वरूप श्रीमद्भागवत के स्तोत्र हैं। इनमें भाव, भाषा एवं रस का संगम है। इसमें स्तुतियों की संख्या लगभग 138 हैं। जिनमें कुन्तीकृत भगवत्स्तुति, ब्रह्मकृत भगवत्स्तुति, भीष्मकृत भगवत्स्तुति, शुकदेवकृत भगवत्स्तुति, सनकादिकृत भगवत्स्तुति आदि प्रसिद्ध हैं।[4]

संस्कृत वाङ्मय स्तुतियों से परिपूर्ण है। हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदाय में विभक्त हो जाने के कारण अनेक सम्प्रदाय के लोगों ने अपने आराध्य की आराधना सामग्री विविध रूपों में प्रस्तुत की। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"हमारा भक्त कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों को देखकर चकित हो जाता है, तो कभी भगवान् के विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीन जनों पर अकारण स्नेह की गाथा गाता हुआ आत्मविभोर हो उठता है। अपने पूर्वकर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है तब उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन कर देती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माँ के सामने मनचाही प्यारी वस्तु के नहीं मिलने पर कभी रोता और कभी हंसता है तथा कभी आत्मविश्वास की मस्ती में नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त कवियों की है। वे अपने इष्टदेव के सामने हृदय को खोलने में किसी प्रकार का आना–कानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता को कोमल पदावली में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों की स्तोत्र-रचनाओं में बड़ी मोहकता है, चित्त को द्रवीभूत करने वाली भारी शक्ति है।[5]

मनुष्य में जब सत्व गुण का आधिक्य होता है तब वह भक्ति की धारा में बहने लगता है। वह उस समय यथार्थवाद के धरातल से ऊपर उठकर भावों के अतिरेक में अपने उपास्य के ऊपर सब कुछ न्यौछावर कर देता है। उपास्य के श्रीचरणों में सर्वस्व अर्पित कर वह

---

1. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय 149.
2. वही, सौप्तिक पर्व, 7/2-3.
3. वही, द्रोणपर्व, 74/52-54
4. श्रीमद्भागवत महापुराण, 1/8, 2/9, 3/9, 1/9, 2/4, 3/16.
5. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 347.

अकिंचन हो जाता है और गाने लगता है। उसकी वाणी तो मूक, पर हृदय तार-तार होकर झंकृत होने लगता है, जिसमें अपने इष्टदेव के प्रति सहजभाव समर्पित होते हैं। वह एक ऐसा सूत्र होता है, जो आराध्य और आराधक के बीच सम्बन्ध की एकतानता प्रस्तुत करता है। फिर भक्त और भगवान् में भेद नहीं रह जाता। द्वैत संकुचित होकर अद्वैत की शुद्ध शिला बन जाता है।

पौराणिक स्तोत्रों के उपरान्त संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों की रचना स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में होने लगी। धीरे-धीरे स्तोत्र-साहित्य की एक लम्बी शृंखला बन गयी। ये स्तोत्र प्रायः तीन प्रकार के हुये—प्रथम तो वे, जिनमें देवता के नामों का परिगणन मात्र हुआ। जैसे— **गोपालसहस्रनाम**, **दुर्गाद्वात्रिंशद्नाम** आदि। दूसरे वे स्तोत्र, जिनमें अनुभूतिपक्ष या अर्थगाम्भीर्य कम और शब्दाडम्बर या शब्दचित्र का आधिक्य देखा जाता है। जैसे— रावणकृत **शिवताण्डवस्तोत्र** आदि। तीसरे प्रकार के वे स्तोत्र जो भाषा, भाव, रस और अलंकार से समन्वित होकर भक्तों के हृदय को उल्लसित करने वाले होते हैं। ऐसे स्तोत्रों में अनुभूति का गाम्भीर्य दर्शनीय होता है। इनमें वैयक्तिकता, स्तोत्रों की आध्यात्मिक, विरहजन्य वेदना तथा उपास्य के प्रति सच्ची भक्ति प्रदर्शित होती है। इन स्तोत्रों में देवताओं के नख-शिख रूपसौन्दर्य का वर्णन, उनकी महिमा का स्तवन तथा साथ ही अपनी दीनता की अभिव्यक्ति करते हुये अपने उद्धार की प्रार्थना की गयी होती है।[1]

स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध स्तोत्र-काव्यों का आरम्भ कब से और कैसे हुआ इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता, फिर भी प्राप्त स्तोत्र-काव्यों में श्रीपुष्पदन्त विरचित **शिवमहिम्नस्तोत्र** प्रसिद्ध एवं प्राचीन है।[2] इसमें शिव सम्बन्धी विविध भावप्रसूनों को सजाकर एक ऐसी स्तुतिमाला तैयार की गयी है, जिसमें दर्शन एवं साहित्य का मणिकांचन योग है।

इसी प्रकार महाकवि बाणभट्ट विरचित चण्डीशतकम् जो सातवीं शताब्दी में विरचित, स्रग्धरा छन्द में 102 पद्यों वाली गाढ़बन्ध शैली की रचना है।[3] उत्पलदेव विरचित **शिवस्तोत्रावली**, मयूरभट्ट विरचित **सूर्यशतकम्** आदि प्रसिद्ध है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि शैव स्तोत्र-साहित्य में स्तुति लेखन की दो विषधियां हैं। प्रथम यह कि संक्षेप में भक्त-कवि अपने भावों को सारगर्भित भाषा में सजाकर एक स्तुतिमाला प्रस्तुत करता है। इसमें सर्ग, अध्याय या काण्ड आदि विभाजक वर्ग नहीं होते। जैसे शिवमहिम्न स्तोत्र आदि। दूसरे प्रकार के स्तोत्रों में अनेक प्रकार की पौराणिक कथाओं, भावों एवं नाना प्रकार के रसों का प्रवाह रहता है। इसे सर्ग, अध्याय या काण्ड में विभक्त कर दिया जाता है। ऐसे स्तोत्रों में श्री उत्पलदेव की **शिवस्तोत्रावली** एवं **स्तुतिकुसुमाञ्जलि** का प्रमुख स्थान है।

---

1. संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियां, पृ. 204.
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 350
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. कीथ, अनु. मंगलदेव शास्त्री, पृ. 253.

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में श्रीसदाशिव का गुणगान किया गया है। इसमें अनेक रसों के साथ-साथ शान्त, भक्ति एवं करुण रस का गम्भीर प्रवाह परिलक्षित होता है। जगद्धरभट्ट के समय में स्तोत्रों की रचनायें सगुण एवं निर्गुण ईश्वर की पृथक्-पृथक् होती थीं। किन्तु इस स्तोत्र ग्रन्थ में कवि ने ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों भेदों का विशद विवेचन किया है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि के सम्बन्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का कहना है—"कुछ विद्वानों का विचार है कि 'महिम्नस्तोत्र' से बढ़कर कोई स्तोत्र ग्रन्थ नहीं है। स्तोत्ररत्नाकर आदि में प्रकाशित अन्य कितने स्तोत्रों के सुन्दर भावों और सरस उक्तियों पर कुछ लोग मुग्ध हो जाते हैं। शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' और जगन्नाथ की गंगालहरी की भी प्रशंसा अनेक रसिकों के मुख से सुनी जाती है। परन्तु हमारी सम्मति में तो यह है कि स्तुति साहित्य में स्तुतिकुसुमाञ्जलि से बढ़कर कोई ग्रन्थ नहीं। उसकी कविता इतनी सरस है, उसके स्तवनों में अधिकांश भाग इतने कारुणिक हैं और उसमें अपने आत्म-निवेदन को ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय द्रावक ढ़ंग से किया है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय पसीज उठता है। आँखों से अश्रुधारा बह निकलती है और मन बेतरह विकल हो उठता है। उसकी नयी-नयी उक्तियां, उसके विचित्र-विचित्र उपालम्भ करुण-कन्दन के अनूठे ढंग पढ़ने वाले के हृदय पर बहुत ही आश्चर्य जनक प्रभाव उत्पन्न करते हैं।"[1]

वस्तुतः कवि ने वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत एवं दर्शनशास्त्र का विधिवत् अध्ययन कर इस स्तुति ग्रन्थ की रचना की है। इसीलिये इसे चाहे जिस शास्त्र का विद्वान् पढ़ता है, उसे अपने शास्त्र का पूर्ण आस्वादन होता है। मेरी दृष्टि में स्तुतिकुसुमाञ्जलि केवल स्तुति ग्रन्थ ही नहीं, अपितु शब्दशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र एवं वेद उपनिषद आदि का निष्यन्द है, जिसकी तुलना वर्तमान स्तुति साहित्य में किसी ग्रन्थ से नहीं की जा सकती है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के पूर्ववर्ती स्तोत्र एवं उनका प्रभाव

पौराणिक स्तोत्रों के उपरान्त संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों की रचना स्वतन्त्र स्तोत्र काव्यों के रूप में होने लगी। किन्तु इन स्वतन्त्र रूप से लिखे गये स्तोत्रों में सर्वप्रथम किसकी रचना हुई, यह कहना सम्भव नहीं है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि की रचना के पूर्व संस्कृत वाङ्मय में अनेक स्तोत्रों की रचना हो चुकी थी, जिनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं—

शिवमहिम्नस्तोत्र

गन्धर्वराज पुष्पदन्त द्वारा विरचित यह स्तोत्र अत्यन्त प्राचीन है। इसकी रचना कब हुई, इसका कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी दशवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इसके एक पद्य का उल्लेख किया है।[2] इससे यह निश्चित है कि यह स्तोत्र दशवीं शताब्दी तक पूर्णरूपेण प्रसिद्ध हो चुका था।

---

1. साहित्य सन्दर्भ, पृ.132-33.
2. काव्यमीमांसा, पृ. 91

इसमें शिव सम्बन्धी विविध पौराणिक कथाओं एवं अकृत्रिम भाव कुसुमों को भक्ति सूत्र में पिरो कर एक ऐसी मालिका तैयार की गई है, जिसमें दर्शन और काव्य का मणिकांचन योग प्रतीत होता है। चालीस पद्यों वाले इस स्तुति काव्य में कहीं अध्यात्म की गहराई है[1] तो कहीं पौराणिक कथाओं का निदर्शन भी।[2] कहीं शिव की अनेक मूर्तियों का उल्लेख है तो कहीं उनके नामों का गणनात्मक स्तवन भी। उदाहरणार्थ एक स्थल अवलोकनीय है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहः
त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
भवः सर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहास्।
तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।[3]

कुछ टीकाकारों ने इसके पद्यों का अर्थ शिव और विष्णु दोनों के लिए किया है। स्तोत्र में कवि ने शिव के सगुण एवं निर्गुण दोनों भेदों का वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः।।[4]

भक्त कवि को विश्वास है कि अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार नाना प्रकार के साधनों का आश्रय लेकर तपस्या करने वाले साधक अन्ततः उस शिवलोक को ही प्राप्त करते हैं—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।[5]

इस प्रकार स्तुति साहित्य में अत्यन्त प्राचीन, शिवमहिम्न स्तोत्र में भाव, भाषा एवं अध्यात्म की त्रिवेणी है।

चण्डीशतकम्

श्रीबाणभट्ट-विरचित चण्डीशतकम् में भगवती दुर्गा की स्तुति है। महाकवि बाण की प्रसिद्धि गद्यकार के रूप में है। डॉ. कीथ ने इनका समय सातवीं शताब्दी माना है।[6] मुख्यतया स्रग्धरा छन्द में, 102 पद्यों में निबद्ध इस स्तोत्र-काव्य में कवि ने गाढबंध शैली का आधार लेकर भावों के अन्तराल में पहुँच रचना में नये प्राण फूंक दिए हैं। इसमें लम्बे-लम्बे समास

1. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 5-7
2. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 12, 18, 19
3. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 26, 28
4. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 30
5. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 7
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास — डॉ. कीथ, अनु. मंगलदेव शास्त्री, पृ. 253

युक्त पद्य हैं, जो भक्ति भाव के साथ ही पाण्डित्य प्रदर्शन में अधिक सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ निम्न पद्य देखा जा सकता है—

> विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरितरत्ने वज्रिणि ध्वस्तवज्रे,
> जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
> वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नम्,
> निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी।।[1]

यह पद्य अनेक ग्रन्थों में उद्धृत है।[2] इसी स्तोत्र का एक पद्य राजशेखर ने भी उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है—

> जङ्घाकाण्डोरुनालो नखकिरणलसत्केसरालीकराल-
> प्रत्यग्रालक्तकाभाप्रसरकिसलयो मंजुमंजीरभृङ्गः।
> भर्तुर्नृत्यानुकारे जयति निजतनुस्वच्छलावण्यवापी-
> सम्भूताम्भोजशोभां विदधदभिनवो दण्डपादो भवान्याः।।[3]

सूर्यशतकम्

श्रीमयूरभट्ट द्वारा इस स्तोत्र की रचना की गई है। इस रचना का काल सातवीं शताब्दी है। मयूरभट्ट महाकवि बाणभट्ट के सम्बन्धी थे।[4] इन्होंने अपने कुष्ठ रोग के निवारण के लिए इस सूर्यशतकम् स्तोत्र की रचना की थी। आचार्य मम्मट ने इसे स्पष्ट शब्दों में कहा है, मयूरादीनामिवानर्थ निवारणम्।[5] स्रग्धरा पद्य में विनिर्मित यह शब्द प्रधान स्तोत्र है। शब्द चमत्कार के फेरे में कविं भावों की पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सका। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इसके पद्यों का उल्लेख किया है।[6]

सूर्यशतकम् के ऊपर वल्लभदेव, मधुसूदन एवं त्रिभुवन पाल द्वारा संस्कृत टीकाएँ लिखी गई हैं। डॉ. कीथ का कहना है कि श्लेषों से युक्त बोझिल और थकाने वाली शैली के कारण इसके कविता को उत्तम श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, परन्तु इससे इस विचार की पुष्टि हो जाती है कि ये बाण के समकालीन थे।[7]

शङ्कराचार्य के स्तोत्र

अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक एवं उन्नायक श्रीशङ्कराचार्य द्वारा लिखित अनेक स्तोत्र ग्रन्थ हैं। इन्होंने प्रायः सभी देवी और देवताओं से सम्बन्धित स्तोत्रों की रचना की। जैसे गणेशविषयक चार स्तोत्र—गणेश पञ्चरत्न, भुजङ्गप्रयात, गणेशाष्टक, वरदगणेशस्तोत्र आदि। देवीविषयक

---

1. चण्डीशतकम्, पद्य 17
2. सरस्वतीकण्ठाभरणम् — भोजराज, 2/211
3. काव्यमीमांसा, पृ. 40; काव्यप्रकाश, 7/40
4. कादम्बरी, भूमिका, पृ. 3
5. काव्यप्रकाश, पृ. 10, का. 2 की वृत्ति
6. काव्यमीमांसा, पृ. 212
7. संस्कृत साहित्य का इतिहास — डॉ. कीथ, अनु. मंगलदेव शास्त्री, पृ. 243

सात स्तोत्र—सौन्दर्यलहरी, देवीभुजङ्गप्रयातस्तोत्र, आनन्दलहरी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरसुन्दर्यष्टक, ललितापञ्चरत्न, कल्याणवृष्टिस्तव, नवरत्नमालिका, पञ्चमात्रिका, पुष्पमाला, गौरीदशक, भवानीभुजङ्गप्रयात, कनकधारा, अन्नपूर्णाष्टक, मीनाक्षी पञ्चरत्न, मीनाक्षीस्तोत्र, भ्रमराष्टक, शारदाभुजङ्गप्रयाताष्टक। विष्णुविषयक दशस्तोत्र कामभुजङ्गप्रयात, विष्णुभुजङ्गप्रयात, विष्णुपादादिकेशान्त, पाण्डुरङ्गाष्टक, अच्युताष्टक, कृष्णाष्टक, हरिमीडेस्तोत्र, गोविन्दाष्टक, भगवन्मानसपूजा, जगन्नाथाष्टक। युगलदेवताविषयक चार स्तोत्र—अर्द्धनारीश्वर, उमामहेश्वर, लक्ष्मीनृसिंहपञ्चरत्न, लक्ष्मीनृसिंहकरुणरसस्तोत्र। नदीतीर्थविषयक पाँच स्तोत्र—नर्मदाष्टक, गङ्गाष्टक, यमुनाष्टक, मणिकर्णिकाष्टक, काशीपञ्चक आदि। इसके अतिरिक्त और भी हनुमत्पञ्चरत्न आदि स्तोत्र इनके द्वारा विरचित बताये जाते हैं। जैसे हनूमत्पञ्चरत्न, सुब्रह्मण्यभुजङ्गपयात, गुर्वष्टक, आनन्दलहरी, गोविन्दाष्टक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, दशश्लोकी आदि।[1]

किन्तु उपर्युक्त सभी स्तोत्र शङ्कराचार्य विरचित हैं, इसमें संदेह है। इस संदेह की पुष्टि उस समय और स्पष्ट हो जाती है, जब शङ्कराचार्य विरचित 'देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' का निम्न पद्य सामने आता है—

परित्यक्ता देवा: विविधविधसेवाकुलतया।
मया पञ्चाशीतेरधिकमपनीते तु वयसि।।[2]

इससे यह स्पष्ट है कि आदि शङ्कराचार्य (जो 32 वर्ष की अवस्था में ही शरीर त्याग दिये) रचित उपर्युक्त सभी स्तोत्र नहीं हो सकते, बल्कि शङ्कराचार्य उपाधिधारी संन्यासियों द्वारा लिखे गये हैं। मेरी दृष्टि में आनन्दलहरी, सौन्दर्यलहरी एवं कनकधारास्तोत्र इनके द्वारा लिखित माने जा सकते हैं। इन स्तोत्रों में भाषा और भाव की विशेषता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय भी शङ्कराचार्य के नाम से लिखित सभी स्तोत्रों को आद्यशङ्कराचार्य का मानने में संदेह प्रकट करते हैं।[3] श्रीकृष्णचैतन्य ग्यारह स्तोत्रों को शङ्कराचार्य कृत मानने के पक्ष में हैं।[4]

इनके स्तोत्रों में सौन्दर्यलहरी स्तोत्र-साहित्य का शृङ्गार है। इसके 103 पद्यों में भगवती उमा के अलौकिक सौन्दर्य एवं असीम ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है। एक स्थल पर भगवत्पाद कहते हैं—हे उमे! भौरों की प्रत्यंचा से युक्त पुष्पधन्वा, मित्र बसन्त और मलयानिल का स्पन्दन ले विश्व को सम्मोहित कर देता है। वह भी तुम्हारी ही कृपा कटाक्ष का प्रतिफल है—

धनु: पौष्पं मौर्वी मधुकरममी पञ्चविशिखा:,
बसन्त: सामन्तो मलयमरूदायोधनरथ:।
तथ्याप्येक: सर्वं हिमगिरिसुते! कामपि कृपां
अपाङ्गात्ते लब्ध्वा जगदिदमनङ्गो विजयते।।[5]

---

1. शङ्कराचार्य — बलदेवोपाध्याय, पृ. 164
2. दुर्गासप्तशती — देव्यपराधक्ष्मापनस्तोत्र, पृ. 230
3. शङ्कराचार्य — बलदेवोपाध्याय, पृ. 165
4. संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास — अनु. विनय कुमार राय, पृ. 447
5. सौन्दर्यलहरी, पद्य 6

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के बाह्य कलेवर की कमनीयता का गुणगान करते हुए भक्त कवि ने जो भावों की वीथि प्रस्तुत की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।[1]

शिवस्तोत्रावली

महाकवि श्रीउत्पदलदेव द्वारा रचित यह स्तोत्रावली बीस स्तोत्रों में विभक्त है। इस स्तोत्र में उत्पलदेव ने केवल तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें स्तोत्रों का क्रमशः संग्रहस्तोत्र, जयस्तोत्र एवं भक्तिस्तोत्र नामकरण किया था। शेष सत्रह स्तोत्रों का नाम आचार्य विश्वावर्त ने रखा है।[2]

उत्पलदेव ने इस स्तोत्रावली में शैव दर्शन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म सिद्धान्तों को भक्ति की भूमिका में प्रतिपादित किया है। एक स्थल पर कवि सुख–दुःख का परिचय देते हुए कहता है कि प्रभु की प्राप्ति ही असली सुख है और उनका वियुक्त हो जाना दुःख की पराकाष्ठा—

संग्रहेण सुखदुःख लक्षणा,
मां प्रति स्थितिमिदं शृणु प्रभो!
सौख्यमेव भवता समागमः
स्वामिना विरह एव दुखिता।।[3]

कवि भक्ति भाव में इतना लीन है कि उसे मृत्यु और मोक्ष में कोई पार्थक्य नहीं ज्ञात होता।[4] इस प्रकार अध्यात्म प्रधान एवं भक्ति भाव से परिपूर्ण यह स्तोत्र–काव्य संस्कृत साहित्य का उज्ज्वल मणि है।

कुन्दमाला स्तोत्र

यह वैष्णव स्तोत्र है। इसकी रचना आचार्य कुलशेखर ने की है। इनका समय दसवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। बाईस पद्यों वाले इस छोटे से स्तोत्र में कवि ने अत्यन्त निरभिमानितापूर्वक भगवान् के श्रीचरणों में आत्मनिवेदन किया है। माधुर्य गुण सम्पन्न, भाषा की सरलता एवं सरसता इसमें पूर्णरूपेण परिलक्षित होती है। उदाहरणार्थ निम्न पद्य अवलोकनीय है—

बन्दे मुकुन्दमरविन्ददलायताक्षं
कुन्देन्दुशंखदशनं शिशुगोपवेशम्।
इन्द्रादिदेवगणवन्दितपादपीठम्
वृन्दावनालयमहं वसुदेवसूनुम्।।[5]

भक्ति का मूलाधार है—श्रद्धा और विश्वास। इस स्तोत्र में कवि का निश्चल मन अपने आराध्य की सेवा में अर्पित होकर निर्बाध सुख की अनुभूति कर रहा है।

---

1. सौन्दर्यलहरी, पद्य 43, 99
2. शिवस्तोत्रावली — श्रीलक्ष्मण, भूमिका भाग
3. शिवस्तोत्रावली, 13/1
4. शिवस्तोत्रावली, 13/3
5. कुन्दमालास्तोत्रम्, पद्य 10

अलवन्दारस्तोत्र

वैष्णव मत के संस्थापक श्रीरामानुजाचार्य के गुरु श्रीयामुनाचार्य ने इस स्तोत्र की रचना की है। यह स्तोत्र अपनी काव्यगत विशेषताओं एवं भक्ति की अजस्र बहने वाली धारा से भक्त संदोह को आप्लावित करने वाला दसवीं शताब्दी का अनूठा स्तोत्र है। भाव और भाषा गत दोनों प्रकार की विशेषताओं से समुल्लसित इस स्तोत्र का निम्न पद्य अवलोकनीय है—

> नवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
> निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
> स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
> मधुव्रतो नेक्षुरसं समीहते।।[1]

यहाँ पर कवि का प्रभु के प्रति समर्पण भाव द्योतित हो रहा है।

कृष्णकर्णामृतस्तोत्र

दाक्षिणात्त्य महाकवि लीलाशुक द्वारा रचित यह स्तोत्र ग्यारहवीं शताब्दी की श्रेष्ठ स्तोत्र रचना है। कृष्ण भक्तों और काव्य रसिकों को समान रूप से आनन्दित करने वाले इस स्तोत्र में जहाँ एक ओर शब्द-सौन्दर्य है वहीं भक्ति रस की पयस्विनी भी। इसमें भक्त कवि ने विष्णु के चरित्रों का गुणगान किया है। उदाहरण के लिए निम्न पद्य द्रष्टव्य है—

> मुग्धं स्निग्धं मधुरमुरलीमाधुरीधीरनादैः-
> कारं कारं क.र्णविवरं गोकुलव्याकुलत्वम्।
> श्यामं कामं युवजनमनो मोहनं मोहनङ्गं
> चित्ते नित्यं निवसतु महोबल्लकी वल्लभं नः।।[2]

इसके अतिरिक्त और भी शिव सम्बन्धी स्तोत्रों का उल्लेख डॉ. चमनलाल गौतम ने किया है।[3] उनमें से कुछ स्तोत्रों का नामोल्लेख ज्यों का त्यों इस प्रकार है—

स्तोत्रनाम	पद्य संख्या	लेख
शिवरक्षास्तोत्र	12	श्रीयाज्ञवल्क्य
शिवताण्डवस्तोत्र	14	श्रीरावण
दारिद्र्यदहनशिवस्तोत्र	9	श्रीवसिष्ठ
शिवमूर्त्यष्टक	11	श्रीदक्ष
शिवस्तोत्र	20	श्रीउपमन्यु
शङ्करस्तोत्र	10	श्रीवसुदेवानन्द सरस्वती
द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्र	13	अज्ञात

इसी तरह लगभग चार सौ स्तोत्रों का नाम निर्देश किया गया है किन्तु यहाँ उनकी उपयोगिता और प्रसिद्धि न समझ कर उल्लेख नहीं कर रहा हूँ।

---

1. अलवन्दारस्तोत्र, पद्य 4
2. कृष्णकर्णामृतस्तोत्र, पद्य 40
3. बृहत्स्तोत्र रत्नाकर, पृ. 49

पूर्ववर्ती स्तोत्रों का कुसुमाञ्जलि पर प्रभाव

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के पूर्ववर्ती शिवमहिम्न आदि स्तोत्रों एवं श्रीमद्भागवत् आदि महापुराणों के अध्ययन से लगता है कि स्तुतिकार ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि की रचना में इनसे प्रेरणा प्राप्त की थी। पूर्व स्तोत्र-काव्यों का कुसुमाञ्जलि में कहीं भाव साम्य एवं कथा साम्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अंशत: या पूर्णत: परिलक्षित होता है जिनका अध्ययन के आधार पर कुछ उदाहरण देखा जा सकता है।

शिवमहिम्न स्तोत्र का प्रभाव

पौराणिक मान्यता के अनुसार स्वेच्छाविहारी शिव दिगम्बर वेश में विचरण कर रहे थे। उनके अपूर्व शारीरिक लावण्य को देख कर मुनि-पत्नियाँ मुग्ध हो गईं। जिससे क्षुब्ध होकर ऋषियों ने शिव के लिङ्गपतन होने का शाप दे दिया। वह लिङ्गपतन भी लोकोपकार के लिए ही हुआ। इस भाव का निर्वचन एक कवि ने अपने स्तोत्र में स्पष्ट रूप से किया है—

अपूर्वं लावण्यं विवसनतनोस्ते विमृशतां
मुनीनां दाराणां समजनि स कोऽपि व्यतिकर:।
यतो भग्ने गुह्ये सकृदपि सपर्यां विदधतां
ध्रुवं मोक्षोऽश्लीलं किमपि पुरुषार्थप्रसवि ते।।[1]

इसी पद्य के भाव को कुसुमाञ्जलि में निम्न रूप से लिखा गया है—

निजाङ्गभङ्गभङ्ग्याऽपि भक्तानुग्रहकारिणे।
नम: स्तम्भितजम्भारिभुजस्तम्भाय शम्भवे।।[2]

अर्थात् जो स्वामी अपने अंग के भंग से भी भक्तों का परम कल्याण करते हैं, तथा जिन्होंने जगत् की रक्षा हेतु इन्द्र की भुजा को भी स्तम्भित कर दिया उस सदाशिव को नमस्कार है।

महिम्नस्तोत्र की अपेक्षा कवि का रचनात्मक वैशिष्ट्य यह है कि जिस बात को बतलाने के लिए पुष्पदन्त ने शिखरिणी जैसे बड़े पद्य का प्रयोग किया है, उसी बात का कथन कहीं-कहीं अनुष्टुप् जैसे छोटे छन्दों में भी कवि ने किया है।

शिवमहिम्न स्तोत्र में कहा गया है कि सहस्र कमलों को लेकर शिव की आराधना करते समय एक कमल के कम हो जाने पर विष्णु ने उस कमी की पूर्ति अपने कमल-नयन से की, जिससे प्रसन्न होकर सदाशिव ने उन्हें सुदर्शन-चक्र प्रदान किया—

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-
र्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्।
गतो भक्त्युद्रेक: परिणतमसौ चक्रवपुषा,
त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर! जागर्ति जगताम्।।[3]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, पृ. 22
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/15
3. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 19

श्रीजगद्धरभट्ट ने इस भाव को इन शब्दों से व्यक्त किया, श्रीसदाशिव के चरण कमलों में अपरिमित भक्ति भाव होने के कारण विष्णु ने उनकी आराधना में अपने कमल नेत्र को समर्पित कर दिया जिसके फलस्वरूप सुदर्शन चक्र प्राप्त कर विष्णु ने त्रिलोक की रक्षा की—

कृष्णेन त्रिजगत्प्रसिद्धविजयप्रख्यातिना लोचनं,
भक्त्या वासवसूनुना कृतवता पादाब्जपूजाविधौ।
यस्मादाप्तसुदर्शनेन निखिलं विश्वं विधेयीकृतं
कृष्णेनेव स धूर्जटिः घटयतु श्रेयांसि भूयांसि नः।।[1]

यहाँ पर शब्द विन्यास को छोड़ कर भावों की समानता प्रायः एक सी ही है। काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि से महिम्न के पद्य में चमत्कार है।

शिव की महिमा अवर्णनीय है। समुद्र मंथन से उद्भूत हलाहल का पान कर दैत्य एवं देवों को शान्ति प्रदान करने वाले शिव के पाताल विदारण कर वह्नि की ज्वालाओं से उद्दीपित ज्योतिर्लिङ्ग का मर्मज्ञान देवताओं को भी नहीं हो सका। कहा जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु भी इसके रहस्य को नहीं जान सके। महिम्नस्तोत्र में इस कथा का निर्देश निम्न पद्य में है—

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः,
परिच्छेतुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरीश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति।।[2]

इस पद्य का प्रभाव कुसुमाञ्जलि के निम्न पद्य पर पूर्णतः परिलक्षित होता है—

जयत्युदधिनिः सरद्गरनिगारलब्धाभय-
प्रमोदभरनिर्भरत्रिदशदैत्यवृन्दस्तुतः।
रसातलतलोद्गतज्वलदलङ्घ्यलिङ्गोल्लस-
न्महामहिममोहितद्रुहिणवासुदेवो हरः।।[3]

यहाँ पर छन्दगत भिन्नता होने पर भी भाव साम्य है।

कैलास पर्वत श्रीगौरीशङ्कर के विलास की पावन स्थली है। प्रणय विमुख भगवती पार्वती रावण द्वारा कैलास पर्वत का उद्वेलन करने पर डर गईं और प्रणय कोप छोड़ कर प्रभु के चरणों से लिपट गईं। इसी भाव को काव्य की भाषा में पुष्पदन्त ने इस प्रकार लिखा है—

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं,
बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः।
अलभ्या पातालेऽप्यलसचलितांगुष्ठशिरसि,
प्रतिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुवमुपचितो मुह्यति खलः।।[4]

---

1. 3/52
2. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 10
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/5
4. शिमहिम्न स्तोत्र, पद्य 12

इस पद्य का प्रभाव कुसुमाञ्जलि के निम्न पद्य पर पूर्णरूपेण है—

जयत्यतुलविक्रमोन्मिषदखर्वगर्वज्वर-
ज्वलच्चपलमन्मथोन्मथनभग्नभोगस्पृहः।
दशास्यभुजमण्डलीतरलितैकपिंगाचल-
त्रसद्गिरिसुताहठग्रथितकण्ठपीठो हरः।।[1]

भाषागत सौन्दर्य दोनों पद्यों का भिन्न-भिन्न है। जहाँ महिम्न में शब्दों का माधुर्य एवं पद्य की गेयात्मकता भाषा के प्रवाह को शक्ति प्रदान करती है, वहीं कुसुमाञ्जलि के पद्य में समास-प्रधान वाक्य एवं गाढबंधात्मक भाषा पाठक की रुचि में त्वरा पैदा करने में प्राय: असमर्थ है।

अष्टमूर्ति शिव की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने शिवमहिम्न में निम्न पद्य लिखा है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।।[2]

इस पद्य का प्रभाव कुसुमाञ्जलि के अधोलिखित पद्य पर पड़ा है—

उर्वीनीरसमीरणारुणशिखिव्योमात्मसोमात्मकै-
रष्टाभिर्विभवैर्बिभर्ति भुवनं भोक्ता च भोग्यश्च यः।
ब्रूमस्तस्य किमीश्वरस्य महत: स्वैरी स्वकैरेव य:
स्फारैर्ब्रह्म पुरन्दरप्रभृतिभि: शारैरिव क्रीडति।।[3]

पुष्पदन्त ने शिवमहिम्न के मात्र दो पद्यों में श्रीसदाशिव के अनेक नामों का उल्लेख करते हुए नम: पद का प्रयोग किया है। सम्भवत: कुसुमाञ्जलिकार ने नम: पद प्रयोग वाले इन दोनों पद्यों से प्रभावित होकर ही नमस्कारात्मक द्वितीयस्तोत्र की रचना की है। शिवमहिम्न का उपर्युक्त पद्य इस प्रकार है—

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो,
नम: क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमो।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नम: सर्वस्मै ते तदिदमिति शर्वाय च नम:।।

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नम:।
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नम:।।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/6
2. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 26
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/52

जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः।
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः।।[1]

कुसुमाञ्जलि के निम्न पद्य इनकी समता रखते हैं—

नमः शिवाय निःशेष–क्लेशप्रशमशालिने।
त्रिगुणग्रथिदुर्भेदभवभेद–विभेदिने।।
नमः समस्त–संकल्प–कल्पना कल्पशाखिने।
विकासिकलिकाकान्त कलापाय स्वयम्भुवे।।[2]

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी भाव साम्य की दृष्टि से शिवमहिम्न से स्तुतिकुसुमाञ्जलि को प्रभावित समझा जा सकता है।[3]

शिवस्तोत्रावली का प्रभाव

जगद्धरभट्ट ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि की रचना उत्पलदेव कृत शिवस्तोत्रावली से प्रभावित होकर की है। इस बात का प्रमाण अन्यत्र अप्राप्त होने पर भी दोनों स्तोत्रों के बाह्य एवं अन्तः तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर मिल सकता है। ये दोनों ही विद्वान् कश्मीर की कवि भूमि की उपज हैं तथा दोनों के उपास्यदेव शिव हैं।

सर्वप्रथम इन दोनों स्तोत्रों के बाह्य–परीक्षण के आधार पर साम्य देखा जा सकता है। शिवस्तोत्रावली भिन्न–भिन्न नाम वाले बीस स्तोत्रों में विभक्त श्रीसदाशिव की भक्ति भाव समन्वित स्तुति है। कुसुमाञ्जलि भी भिन्न–भिन्न नाम वाले उनतालीस स्तोत्रों में विभक्त शिव भक्ति से सम्बन्धित स्तोत्र है। शिवस्तोत्रावली का पन्द्रहवाँ और कुसुमाञ्जलि का सत्रहवाँ स्तोत्र दोनों भक्तिस्तोत्र से कहे गये हैं। जैसे शिवस्तोत्रावली के अन्तिम पद्य में शिव भक्ति के प्रसार की कामना की गई है। उसी प्रकार कुसुमाञ्जलि के अड़तीसवें स्तोत्र में भी इन्हीं भावों का उल्लेख किया गया है—

इति शुभं भगवच्चरितस्तुति-
व्यतिकरेण यदर्जितमूर्जितम्।
भवतु तेन मनस्यनपायिनि,
सुकृतिनां शिवभक्तिचमत्कृतिः।।[4]

दोनों स्तोत्रों में शैव दर्शन की गहराई है। दोनों भक्त कवियों ने अपने आराध्य को जगत् के निर्माण का मूल कारण माना है, यथा—(क) संसारैकनिमित्ताय, (ख) इच्छयैव भुवनानि भावयन्।[5]

---

1. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 29
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/2, 5
3. शिवमहिम्न स्तोत्र, पद्य 10, 29, 30; स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/27-30, 6/5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/30
5. शिवस्तोत्रावली, (क) 2/8, स्तुतिकुसुमाञ्जलि, (ख) 1/15

उत्पलदेव एवं जगद्धरभट्ट दोनों ने शिव की क्रियाशक्ति का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ स्थल द्रष्टव्य हैं—(क) क्रियाशक्तिमीश ते...। (ख) ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपञ्चः।[1]

शिवस्तोत्रावली में कवि ने ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु रूप में लोक कल्याण के लिए आविर्भूत शिव को नमस्कार किया है—

ब्रह्मेन्द्रविष्णुनिर्व्यूढ–जगत्संहारकेलये।
आश्चर्यकरणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये।।[2]

जगद्धरभट्ट ने भी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूपधारी शिव को नमस्कार किया है—

नमो ब्रह्महरित्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे।
जगत्सर्गस्थितिह्रासहेतवे वृषकेतवे।।[3]

शिवस्तोत्रावली में शिव एवं पार्वती को अभिन्न माना गया है। एक स्थल पर कवि कहता है कि शिव ही कभी शिवा और कभी शिव होते हैं—

क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी
सकलार्थक्रमगर्भिणी प्रधाना।
परमार्थपदे तु नैव देव्या
भवतो नापि जगत्त्रयस्य भेदः।।[4]

अर्थात् शिव की प्रधानता कभी शक्ति और कभी शिव के रूप में मानी गई है। जगद्धरभट्ट ने भी शिव और पार्वती को प्रकाश–विमर्श रूप माना है। सम्पूर्ण अर्द्धनारीश्वर–स्तोत्र में शिव और शक्ति के अभेद का ही वर्णन है—

किमयं शिवः किमु शिवा थ शिवा–
विति यत्र वन्दनविधौ भवति।
अविभाव्यमेव वचनं विदुषा–
माविभाव्यमेव वचनं विदुषाम्।।[5]

इसी तरह दोनों स्तोत्रों में अनेक स्थलों पर शिव और शक्ति के अभेद का वर्णन है, यथा—

त्वमसि सदा परमेश्वरी समेतः।[6]
उमया हृतमर्धमेव यत्।[7]

1. शिवस्तोत्रावली, (क) 20/16, स्तुतिकुसुमाञ्जलि, (ख)3/5
2. शिवस्तोत्रावली, 2/13
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/23
4. शिवस्तोत्रावली, 18/2
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/18
6. शिवस्तोत्रावली, 12/15
7. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15/9

काव्य की आत्मा रस के सम्बन्ध में भी दोनों स्तोत्रों के विचार प्राय: एक से ही दिखायी देते हैं। जैसे शिवस्तोत्रावली के अनेक स्थलों पर—जयति भक्ति रस:, त्वद्भक्तिरसपूरित:, स्वादुभक्तिरसास्वाद:, पश्यन्भक्तिरस:[1] आदि कहा गया है। इसी प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर—भक्तिरसस्तव देव! सतां जयति, भक्तिरस-पारणनित्यतृप्तम्[2] आदि का उल्लेख है।

दोनों स्तोत्रों में भक्ति को योग आदि से भी श्रेष्ठ कहा गया है। शिवस्तोत्रावली के एक स्थल पर कहा गया है कि भक्ति ही सर्वोपरि है—

न योगो न तपो नार्चाक्रम: कोऽपि प्रणीयते।
अभागे विश्वभागेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।।[3]

इसी प्रकार जगद्धरभट्ट ने भी अनेक स्थलों पर भक्ति को श्रेष्ठ माना है।[4] मुक्ति परम पुरुषार्थ है, जो शिव भक्ति के अतिरिक्त अलभ्य है—

मुक्तिर्हि नाम परम: पुरुषार्थ एक-
स्तामन्तरायमवयन्ति तदन्तरज्ञा:।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख-
लेखाशिखाभरणभक्तिरभङ्गुरा व:।।[5]

शिवस्तोत्रावली का भी पद्य द्रष्टव्य है—

शान्तये न सुखलिप्सुता मनाग्,
भक्तिसम्भृतमदेषु तै: प्रभो:।
मोक्षमार्गणफलापि नार्थना,
स्मर्यते हृदयहारिण: पुर:।।[6]

इन दोनों भक्त कवियों ने भक्त की एक ही स्थिति स्वीकार की है—

(क) त्वत्पादपद्मसंस्पर्शपरिमीलितलोचन।

(ख) मीलद्विलोचनसमुद्गसमुद्गताश्रु।[7]

इन सभी साम्यताओं के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी शब्द साम्य, भाव साम्य एवं अर्थ साम्य की छटा देखी जा सकती है।[8] इससे यह स्पष्ट है कि शिवस्तोत्रावली का प्रभाव

---

1. शिवस्तोत्रावली, 14/10, 9/13, 17/42, 5/16
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 24/4, 9/25
3. शिवस्तोत्रावली, 1/18
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/35, 3/44, 5/23
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/44
6. शिवस्तोत्रावली, 18/15
7. शिवस्तोत्रावली, 5/5, स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/24
8. शिवस्तोत्रावली, 12/10, 5/23, 11/10, 16/21 का क्रमश: स्तुतिकुसुमाञ्जलि के 8/48, 24/27, 12/24, 5/23 में साम्य है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि पर पूर्णरूपेण है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इस शिवस्तोत्रावली को देख कर कवि के मन में स्तुतिकुसुमाञ्जलि की रचना करने की भावना जगी होगी।

शङ्कराचार्य के स्तोत्रों का प्रभाव

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के ऊपर शङ्कराचार्य कृत स्तोत्रों का भी प्रभाव आंशिक रूप से परिलक्षित होता है। शङ्कराचार्य की दृष्टि में जगत् की सर्ग, स्थिति और लय का एकमात्र कारण शिव है—

त्वत्तो जगद्भवति देव भवस्मरारे,
त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड विश्वनाथ।
त्वय्येव गच्छति लयं जगदेतदीश,
लिङ्गात्मकं हर चराचरविश्वरूपिन्।।[1]

इसका उल्लेख जगद्धरभट्ट ने भी किया है—

जगत्सर्गस्थितिह्रास–हेतवे वृषकेतवे।।[2]

शङ्कराचार्य ने शिवाष्टक में दक्ष–प्रजापति के यज्ञ विध्वंस एवं त्रिपुरासुर सम्बन्धित आख्यानों का उल्लेख किया है।[3] स्तुतिकुसुमाञ्जलि में भी उपर्युक्त आख्यानों के संकेत मिलते हैं।[4] शङ्कराचार्य की दृष्टि में सूर्य, चन्द्र, पवनादि सभी देवता श्रीसदाशिव की सेवा करते हैं—

आदित्यसोमवरुणानिलसेविताय[5]

स्तुतिकार भी सूर्य आदि को शिव के सेवक के रूप में स्वीकार करते हैं—

पावकेन शिखिनोपशोभितम्।[6]

अतः कहा जा सकता है कि भावसाम्य की दृष्टि से स्तुतिकार शङ्कराचार्य से भी प्रभावित हैं।

श्रीमद्भागवत का प्रभाव

श्रीमद्भागवत अनेक काव्यों, नाटकों एवं स्तुति काव्यों का उपजीव्य है। यद्यपि इसमें श्रीविष्णु की चरित्रचर्चा वैदुष्यपूर्ण भाषा में है, फिर भी वर्णन की दृष्टि से शिव भक्ति से परिपूर्ण स्तुतिकुसुमाञ्जलि पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। एक स्थल पर भाग्यहीनों की दयनीयता पर खेद करते हुए श्रीशुकदेव जी कहते हैं—

---

1. वेदसार, शिवस्तोत्र
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/23
3. शिवाष्टक, पद्य 5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/4, 6
5. शिवाष्टक, पद्य 8
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/22

यन्न व्रजन्त्यघभिदो रचनानुवादा-
च्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः।
यास्तु श्रुता हतभगैर्नृभिरात्तसारा-
स्तांस्तान् क्षिपन्त्यशरणेषु तमःसु हन्त।।[1]

इसी भाव को शिव के सम्बन्ध में सन्निविष्ट करते हुए कवि का कथन है कि संसार में विरल लोग ही होंगे, जो भगवान् श्रीशिव के चरणों की सेवा को छोड़ कर बुद्धि को कुमार्ग पर ले जाने की कुकृपाओं का अनुशीलन करते हैं—

उलङ्घ्य शासनमनन्यजशासस्य,
कोऽप्यन्यशासनमुपासितुमेति निष्ठाम्।
हित्वा वनं हि नवनागरपर्णपूर्ण-
मुष्ट्रः श्रयत्यमृतमेव स कण्टकौघम्।।[2]

भागवत्कार भगवान् की अपरिमित ऐश्वर्य शक्ति एवं भक्त की अल्पज्ञता का वर्णन बड़ी मार्मिक भाषा में किए हैं। इन्होंने मनुष्य योनि का मुख्य प्रयोजन भगवद्भक्ति की पूर्णता ही मानी है—

येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना
ज्ञानश्च तत्त्वविषयं सहधर्म यत्र।
नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य
सम्मोहिता विततया बत मायया ते।।[3]

महाकवि जगद्धरभट्ट भी इसी से मिलते-जुलते भाव को प्रकट करते हैं, वे कहते हैं एक तो मनुष्य जन्म की प्राप्ति, उसमें भी पुरुष शरीर, उसमें भी ब्राह्मण जाति, विद्वत्ता तथा कवित्व शक्ति ये सभी बड़े भाग्य से मुझे प्राप्त होकर मेरे कल्याण को प्रशस्त कर रहे हैं—

मनुष्यता पुरुषताग्र्यवर्णता,
मनीषिता सत्कविता शिवैकता।
इयं मम क्षेमपरम्परा विभोः
स्तुतिप्रसङ्गेन गता कृतार्थताम्।।[4]

श्रीमद्भागवत में सर्वशक्तिमान प्रभु को हृदय स्थित माना गया है। यही प्रभु मनुष्य को सभी दुखों से मुक्त करता है—

योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं
सोऽद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः।

---

1. श्रीमद्भागवत, 3/15/23
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/44
3. श्रीमद्भागवतम्, 3/15/24
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/9

यर्ह्येव कर्णविवरेण गुहां गतो नः
पित्रानुवर्णितरहाभवदुद्भवेन।।
ते त्वां विदाम भगवन् परमार्थतत्त्वं,
सत्वेन सम्प्रति रतिं रचयन्तमेषाम्।
यत्तेऽनुतापविदितैर्दृढभक्तियोगै-
रुद्ग्रन्थयो हृदि विदुर्मनयो विरागाः।।[1]

इन पद्यों का प्रभाव कुसुमाञ्जलि के बारहवें स्तोत्र में प्रतीत होता है।[2] इसी तरह अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।

गीतगोविन्द का प्रभाव

महाकवि ज़यदेव की सरस्वती का अमृत स्तोत्र गीतगोविन्द संस्कृत साहित्य का गौरव ग्रन्थ है। शब्द साम्य, अर्थ साम्य की दृष्टि से स्तुतिकार की भारती जयदेव से भी अंशतः प्रभावित है। महाकवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में दुगूल शब्द का प्रयोग किया है—

केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले।
मञ्जुल-वञ्जुल-कुञ्जगतं विचकर्ष करेण दुगूले।।[3]

कुसुमाञ्जलिकार ने भी अपनी कृति के एक पद्य में दुगूल शब्द का प्रयोग किया है—

यस्येभचर्मघनशोणितपङ्कलिप्त-
मङ्गेषु मङ्गलदुगूलविलासमेति।।[4]

इससे लगता है कि कवि ने दुगूल शब्द को गीतगोविन्द से लिया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्तुतिकार ने स्तोत्र ग्रन्थ की रचना के पूर्व वेद, उपनिषद्, पुराण एवं दर्शन आदि शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ भक्तिपरक काव्य ग्रन्थों का भी अवलोकन किया था, जिनका प्रभाव कुसुमाञ्जलि पर परिलक्षित होता है।

परवर्ती स्तोत्रों पर कुसुमाञ्जलि का प्रभाव

स्तुतिकुसुमाञ्जलि स्तोत्र-साहित्य में कड़ी का काम करती है। जिस प्रकार प्राचीन स्तोत्र-साहित्य का प्रभाव इसके ऊपर है, वैसे ही परवर्ति स्तोत्र-साहित्य भी स्तुतिकुसुमाञ्जलि से पूर्णरूपेण प्रभावित प्रतीत होते हैं। कतिपय स्तोत्र ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा इसे देखा जा सकता है।

रत्नकण्ठ के स्तोत्रों पर प्रभाव

रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि की लघुपञ्चिका नामक संस्कृत टीका लिखी है, जिसके साथ इन्होंने शिव से सम्बन्धित अनेक पद्यों की भी रचना की है। जिन पद्यों पर कुसुमाञ्जलि का प्रभाव है, वे पद्य देखे जा सकते हैं।

---

1. श्रीमद्भागवत, 3/15/46, 47
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/11, 12, 13
3. गीतगोविन्द, 1/5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/12

कुसुमाञ्जलिकार मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ बतलाते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! सभी पुरुषार्थों में मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है, परन्तु भक्ति की महिमा एवं उसके आनन्द को जानने वाले भावुक भक्त मुक्ति को उस उत्कृष्ट भक्ति में बाधक ही मानते हैं। अत: हे प्रभो! हमें वही अविच्छिन्न भक्ति प्रदान करो—

> मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
> स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।
> किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख-
> लेखाशिखाभरणभक्तिरभङ्गुरा वः।।[1]

इसी भाव को टीकाकार रत्नकण्ठ ने अपनी भाषा में कहा है, हे स्वामिन्! जहाँ मुझे अपने नेत्रों से सुन्दर, पूर्ण चन्द्रमा की चाँदनी से भी रमणीय आपके मुख के दर्शन न हों, उस प्रकार के आपके द्वारा दिये गये मोक्ष को भी मैं विडम्बना ही मानता हूँ—

> वीक्षे न यत्र नयनत्रितयाभिरामं
> पूर्णेन्दुतर्जि मुखमीश्वर! तावकीनम्।
> दासस्य नाथ! कृपया भवता वितीर्णं,
> सायुज्यमीदृगपि वेद्मि विडम्बनं मे।।[2]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में भक्त कवि यमराज को फटकारते हुए कहता है कि हे कुत्सित पुरुष! तुम अपने नागपाश को शीघ्र ही समेट लो, क्योंकि मेरे ऊपर तुम्हारे क्रोध की कोई गति नहीं। अरे कायरों को डराने वाले काल! तुम पापरहित भगवान् शङ्कर के भक्तों पर क्या बल दिखा सकते हो। अर्थात् तुम्हारे हुंकार से हम भक्तों का कुछ नहीं होने वाला है—

> पाणौ पिधेहि पवनाशनपाशमाशु
> नास्तीह ते पुरुषपाश रुषोऽवकाशः।
> निःसङ्करेषु शरणीकृतशङ्करेषु
> रे काल! कातरभयंकर किं करोषि।।[3]

इस पद्य के अर्थ साम्य पर ही राजानक रत्नकण्ठ ने एक पद्य लिखा है, जिसका अर्थ यों है—हे काल! तुम्हारा शासन औरों पर चल सकता है। शङ्कर के इन किंकरों पर तुम्हारा कभी भी नहीं चल सकता। क्या तुम भूल गये हो कि अपने एक भक्त की रक्षा करने के लिए भगवान् शङ्कर ने तुम्हें भस्म कर डाला था—

> अन्यत्र प्रसरति ते कृतान्त शक्ति-
> र्नैतेषु क्वचिदपि शम्भुकिङ्करेषु।
> एकस्य प्रणयनतस्य पालनार्थं
> निर्दग्धस्त्वमसि पुरा पुरारिणा यत्।।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/44
2. हिन्दी टिप्पणी, पृ. 44
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/66
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि टिप्पणी, पृ. 140

एक स्थल पर कवि भगवान् के परमैश्वर्य का गान करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! तुम बड़े ही दयालु हो, तुम भक्तों को क्षीरसागर देते हो और अपने दुग्ध बिन्दु से भी प्रसन्न रहते हो। सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि तुम्हारे तीनों नेत्र हैं, फिर भी भक्तों द्वारा प्रदत्त दीप से प्रसन्न हो जाते हो। तुम विद्या के स्वामी हो फिर भी हम सरीखे मतिमंद की वाणी से सन्तुष्ट हो जाते हो—

दुग्धाब्धिदोऽपि पयसः पृषतं वृणोषि,
दीपं त्रिधामनयनोऽप्युररीकरोषि।
वाचां प्रसूतिरपि मुग्धवचः शृणोषि,
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात्।।[1]

इस पद्य के भाव से प्रभावित होकर रत्नकण्ठ ने एक पद्य लिखा है, जो पूर्णतः इससे साम्य रखता है—

गङ्गाधरोऽपि वृणुषे पयसोऽभिषेकं,
गृह्णासि चार्घ्यकणिकां स्वयमप्यनर्घ्यः।
ज्योतिः परं त्वमसि दीपमुरीकरोषि
किं किं करोषि न विनीतजनानुरोधात्।।[2]

इसी प्रकार कुसुमाञ्जलि के अनेक अन्य स्थलों का भी टीकाकार पर प्रभाव है।[3]

राजानक शितिकण्ठ पर प्रभाव

शितिकण्ठ कश्मीरी विद्वान् थे। उन्होंने महानय–प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें शिव और पार्वती की विविध लीलाओं का काव्यमयी भाषा में वर्णन है। सम्प्रति यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है।[4]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि का प्रभाव शितिकण्ठ के ऊपर भी प्रतीत होता है। स्तुतिकार जगद्धरभट्ट यमराज को कहते हैं—हे यमराज! तुम अपने हुंकार का प्रदर्शन अन्यत्र करो शिव भक्तों पर तुम्हारा प्रभाव असफल हो जायेगा—अन्यत्र दर्शय निरंकुश हुंकृतानि।[5]

जगद्धरभट्ट के इसी अभिप्राय के अनुसार राजानक शितिकण्ठ ने भी कालराज को फटकारा है—

नित्यं दुर्ललितोऽसि दीनदमने त्वं चेत्तथापि ध्रुवं,
रे रे काल कराल मुञ्च विमते व्यर्थां दुराशामिमाम्।
किं मन्ये प्रहरिष्यसे जनमिवानाथं बतैनं हठात्,
ख्यातं शंकरकिङ्करं त्रिभुवने प्रेमैकपात्रं विभोः।।[6]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/14
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, हिन्दी टिप्पणी, पृ. 182
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/5, 9/30, 10/34, 10/56, 10/66, 11/33, 11/66, 67, 76, 77 आदि।
4. विश्वसंस्कृतशताब्दी ग्रन्थ जम्बू कश्मीर भाग, पृ. 147
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/63
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, संस्कृत टीका, 9/63, पृ. 75

इसी तरह और अनेक स्थानों पर शितिकण्ठ की रचना पर महाकवि की कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि का गोस्वामी तुलसीदास पर प्रभाव

सन्त कवि तुलसीदास श्रीजगद्धरभट्ट से पूर्ण प्रभावित थे। इसका सूत्रात्मक निर्देश स्तुतिकुसुमाञ्जलि की हिन्दी भूमिका में है।[1] जगद्धरभट्ट का जन्म काल चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और गोस्वामी तुलसीदास का जन्मकाल सोलहवीं शताब्दी है। अत: यह कहना अनुचित नहीं होगा कि स्तुतिकुसुमाञ्जलि तुलसीदास के समय तक पूर्ण रूप से विद्वानों के प्रशंसा की वस्तु बन गई थी। स्वयं गोस्वामी जी इस स्तुति काव्य से प्रभावित थे। उदाहरण द्वारा इसे और स्पष्ट किया जा सकता है।

श्रीजगद्धरभट्ट ने कवियों की कवित्व प्रशंसा का विषय एकमात्र भगवान् के चरणों का गुणानुवाद माना है। राजाओं एवं प्राकृत पुरुषों का गुणगान करना उनकी दृष्टि में हेय है—

उष्णं निःश्वसिति क्षितिं विलिखति प्रस्तौति न प्रेयसः
प्रीतिं सूक्तिभिरीशितुः करतले धत्ते कपोलस्थलम्।
वाग्देवी हृदयज्वरेण गुरुणा क्रान्ता हताशैर्वृथा
नीताविष्कृतकोपनिष्कृपनृपस्तोत्रत्रपापात्रताम्।।[2]

गोस्वामी तुलसीदास भी भगवान् के अलावा अन्य लौकिक नायक नायिकाओं का गुणगान करना उत्कृष्ट नहीं मानते—

कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना।
सिर धुनि गिरा लागि पछताना।।[3]

अपनी निरभिमानिता एवं ज्ञान की तुच्छता को प्रकट करते हुए जगद्धरभट्ट कहते हैं— जो सहृदय व्यक्ति कालिदास प्रभृति प्राचीन कवियों की शृङ्गार-प्रधान रचनाओं का आस्वादन कर लिया है, उसे मेरी भक्ति प्रधान शिव स्तुति कैसी लगेगी—

एताः पूर्वकविप्रणीतविविधग्रन्थामृतस्वादन-
क्रीडादुर्ललितं हरन्ति हृदयं वाचः कथं धीमताम्।
केषाञ्चित् पुनरीश्वरस्तुतिपदव्याहारहेवाकिनां,
यास्यन्ति स्पृहणीयतां भुवि भवक्लेशस्पृशां मादृशाम्।।[4]

अर्थात् इस मेरी शिव भक्तिमयी रचना को मेरे समान भवबाधा से पीड़ित लोग ही सुन सकेंगे। गोस्वामी जी ने भी प्राय: इसी भाव को अपने शब्दों में व्यक्त किया है—

भनिति मोर सब गुन रहित विश्वविदित गुन एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के विमल विवेक।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, हिन्दी भूमिका, पृ. 26
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/34
3. रामचरितमानस, बालकाण्ड
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/36
5. रामचरितमानस, बालकाण्ड

एक स्थल पर श्रीजगद्धरभट्ट अपनी कविता के सम्बन्ध में कहते हैं कि अपनी कविता भला किसे अच्छी नहीं लगती—

न हृद्यतामेति परस्य दुर्मुखः
शिशुः स्रवत्पीनसदिग्धनासिकः।
पितुः स्वकीयस्य तु जीविताधिक-
स्तथोपहास्योऽपि ममाऽयमुद्यमः।।[1]

ठीक यही भाव गोस्वामी जी की निम्न चौपाई में मिलता है—

निज कवित्त केहि लाग न नीका।
सरस होंहि अथवा अति फीका।।[2]

विनयपत्रिका पर प्रभाव

गोस्वामी तुलसीदास की विनयपत्रिका श्रीजगद्धरभट्ट की स्तुतिकुसुमाञ्जलि से पूर्णरूपेण प्रभावित है। सर्वप्रथम दोनों कृतियों की रचना शैली पर विचार करने से पूर्णतः समानता मिलती है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि का उपसंहार करते हुए कवि कहता है कि मैंने भक्ति रूपी अमृत रस से सींची गई नयी-नयी सूक्ति रूपी लताओं द्वारा यह स्तुतिकुसुमाञ्जलि भगवान् शिव के लिए, उनके श्रीचरणों में न्यौछावर कर दी—

अयमिह किंकरेण रचितश्चरणाम्बुजयोः,
स्तुतिकुसुमाञ्जलिर्भगवतस्तरुणेन्दुभृतः।
अविरलभक्तिसिक्तनवसूक्तिलतावचितः,
कलयतु सौरभेण सुकृतां स्पृहयालु मनः।।[3]

तुलसीदास ने भी इसी प्रकार भक्ति सुधासिक्त नवीन सूक्तिमयी विनयपत्रिका श्रीराम के चरणों में अर्पित की है—

देह जीव जोग के सखा मृषा टाँचन टाँचो,
किए विचार सार कदली ज्यों
मनिकनक संग लघु लसत विच-विच काँचो।
विनयपत्रिका दीन की बापु! आपु ही बाँचो।
हिये हेरि तुलसी लिखी जो सुभाय सही
करि बहुरि पूछिये पाँचो।।[4]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के एक पद्य में कवि ने भगवती गौरी से प्रार्थना की है कि हे जननि! तुम प्रभु के अभिप्राय को भली भांति जानती हो, उन्हें मेरी यह भक्ति स्तुति सुना देना—

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/4
2. रामचरितमानस, बालकाण्ड
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/26
4. विनयपत्रिका, तुलसी ग्रन्थावली, 277

देवि प्रपन्नवरदे! गुणगौरि गौरि
यद्वौरियं परिमितं स्रवतीह किञ्चित्।
तत्स्वामिने समुचिते समये सुपाक-
माकूतवेदिनि! निवेदयितुं प्रसीद॥[1]

विनयपत्रिका में कवि ने अनन्य भाव से श्रीराम के चरणों में प्रार्थना की है कि श्रीराम के मानस तक मेरी पत्रिका को पहुँचा दें—

दूसरो भरोसो नाहि, बासना उपासना को,
बासव, विरंचि, सुरनर मुनिगन की।
स्वारथ के साथी मेरे हाथ सों न लेवा देई,
काहूं तो न पीर रघुवीर दीनजन की॥[2]

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी जैसे जगद्धरभट्ट ने आराध्य को उपालम्भ एवं पदे-पदे प्रार्थनापूर्वक स्तुति की है, वैसे ही तुलसीदास ने भी विनयपत्रिका में जगत् कल्याण के लिए श्रीराम को उपालम्भ दिया है एवं प्रार्थना भी किया है—

आगिली पाछिली, अबहूँ की अनुमान ही ते
बूझियत गति कछु कीन्हों तो न काउ मैं।
जग कहै राम की प्रतीति प्रीति तुलसी हूँ,
झूठे साँचे आसरो साहिव रघुराउ मैं॥[3]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के सत्रहवें स्तोत्र में कवि ने भक्ति की महिमा का वर्णन किया है। इनका कथन है कि सर्वेश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर भी जिस भक्ति का क्रीड़ा कन्दुक हो जाता है, उस भक्ति को धन्यवाद है।[4] विनयपत्रिका के उत्तरार्द्ध में तुलसीदास ने भी भक्ति की अनेकशः प्रशंसा की है। इन्होंने भक्ति के परम दुर्लभ एवं अद्भुत शक्ति सम्पन्न भगवान् को भी वश में करने वाला उपाय बतलाया है।[5]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के दीनाक्रंदन नामक ग्यारहवें स्तोत्र में कवि ने अत्यन्त कारुणिक विलाप किया है। उसने यमराज से अपनी रक्षा हेतु भगवान् शङ्कर को अनेक उपालम्भ दिया है—

अज्ञोऽसि किं किमबलोऽसि किमाकुलोऽस्ति,
व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि।
निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि,
क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत्॥[6]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/27
2. विनयपत्रिका, तुलसी ग्रन्थावली, पृ. 75
3. विनयपत्रिका, तुलसी ग्रन्थावली, पृ. 261
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 17/8, 17/10, 17/19
5. विनयपत्रिका, 98, 100
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/103

विनयपत्रिका में तुलसीदास ने भी कलिकाल से उद्विग्न होकर कलि की दुर्दशा से अपने को तथा समाज को बचाने के लिए अनेक पद्यों में श्रीराम एवं शिव की प्रार्थना की है—

नष्टमति, दुष्ट अति, कष्टरत खेदगत
दास तुलसी शम्भु शरण आया।
देहि कामारि श्रीरामपदपंकजे
भक्तिमनवरत गतभेदमाया।।[1]

इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी साम्य देखा जाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्तुतिकुसुमाञ्जलि विनयपत्रिका के आधार ग्रन्थ के रूप में विद्यमान है। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास पूर्ववर्ती भक्त कवियों में श्रीजगद्धरभट्ट से पूर्णतः प्रभावित हैं, यह उनके रामचरित मानस एवं विनयपत्रिका को देखने से प्रतीत होता है।

पौराणिक आख्यानों का कुसुमाञ्जलि में विवेचन

स्तुतिकुसुमाञ्जलि श्रीसदाशिव की भक्ति से परिपूर्ण एक स्तुति काव्य है। इसमें न तो विस्तृत रूप से किसी पौराणिक कथा का उल्लेख है और न तो आराध्य के किसी ऐतिहासिक जीवन का विवेचन ही। इसमें कवि ने कथा वृत्त से दूर होकर प्रभु से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनके गुणों का गान किया है, किन्तु जब वह अपने आराध्य के पवित्र गुणों का कीर्तन करने लगता है तो उसके समक्ष शिव सम्बन्धी पौराणिक कथाओं का स्वरूप भी झांकने लगता है, जिसका सूत्रात्मक रूप से कवि ने यत्र-तत्र अपने पद्यों में निर्देश किया है। स्तुति में पौराणिकता की गन्ध रोचकता एवं गम्भीरता पैदा कर दी है। सम्प्रति यहाँ शिव सम्बन्धी पौराणिक कथाओं का उल्लेख प्रस्तुत है।

शिवलिङ्गपात की कथा

कैलासवासी शिव मङ्गलकारी देवता हैं। एक बार दिगम्बर वेश में स्वच्छन्द विचरण करते हुए शिव के अद्भुत सौन्दर्य को देख कर मुनि पत्नियाँ मोहित हो गईं। ऋषिगणों ने अपनी पत्नियों की मनःस्थिति देखकर शिव को लिङ्ग पतन का शाप दे दिया। शाप के परिणामस्वरूप शिव लिङ्ग पृथ्वी पर गिर पड़ा और भीषण उपद्रव, दुर्भिक्ष आदि होने लगे। जो पुनः ब्रह्मादि देवों द्वारा उस लिङ्ग का पूजन अर्चन करने पर शान्त हुआ तथा मर्त्यलोक वासी सुखी हुए।[2]

इस कथा का उल्लेख स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इस प्रकार है, जो सदाशिव अपने अङ्ग के भङ्ग से भी भक्तों का परम कल्याण करते हैं, उन्हें प्रणाम है—

निजाङ्गभङ्गभङ्ग्यापि भक्तानुग्रहकारिणे।
नमः स्तम्भितजम्भारिभुजस्तम्भाय शम्भवे।।[3]

---

1. विनयपत्रिका, तुलसी ग्रन्थावली, पृ. 10
2. महाभारत, सौप्तिक पर्व, 17/21
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/15

हे प्रभो! आपकी रूप सम्पत्ति देखने से कामवश हुईं अपनी पत्नियों को देख मुनियों ने जो कोपावेश में आप पर प्रहार किया, उससे जो आपके मन में क्रीडा हास हुआ, उसकी हम स्तुति करते हैं—

दृष्ट्वा वधूजनमनुत्तमरूपसम्पत्,
सन्दर्शनोद्भवमनोभवभग्नवृत्तम्।
आषाढपाणिषु रुषा मुनिषु प्रहर्तु-
मभ्युद्यतेषु तव यत् भृशमुद्बभूव।।[1]

हलाहलपान की कथा

देवताओं एवं दैत्यों द्वारा क्षीरसागर का मंथन करने पर सर्वप्रथम हलाहल की ही उत्पत्ति हुई। सम्पूर्ण लोक में व्याकुलता व्याप्त हो गई। सभी त्राहि-त्राहि करने लगे। देवताओं द्वारा प्रार्थना करने पर श्रीनीलकण्ठ ने उस विष का पान कर लिया। इस कथा का वर्णन पुराणों एवं महाभारत में भी है।[2]

स्तुतिकार श्रीजगद्धरभट्ट ने इस कथा का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया। इन्होंने लिखा है—सागर मंथन से उत्पन्न विष के पान करने से निश्चिन्त देवता और दैत्यों द्वारा अहर्निश पूजित श्रीसदाशिव की महिमा अपार है—

जयत्युदधिनिःसरद्गरनिगारलब्धाभय-
प्रमोदभरनिर्भरत्रिदशदैत्यवृन्दस्तुतः।।[3]

दक्षयज्ञ-ध्वंस की कथा

दक्षकन्या सती भगवान् शिव की अर्द्धाङ्गिनी थी। एक बार दक्ष प्रजापति ने यज्ञ करने की योजना बनाई, उसमें उन्होंने सम्पूर्ण देवताओं एवं ऋषियों को आमन्त्रित किया, परन्तु शिव को आमन्त्रित नहीं किया गया। सती को जब यह ज्ञात हुआ कि मेरे पिता यज्ञ कर रहे हैं, तो वह पितृस्नेह के कारण शिव के निवारण करने पर भी चली गई। वहाँ यज्ञ में अपने पति शिव का स्थान एवं यज्ञ भाग नहीं देख कर दुःखी हुई तथा यज्ञाग्नि में शरीर त्याग दिया। इस समाचार को सुन कर शिव क्रोध में मूर्च्छित हो गये और अपनी एक जटा उखाड़ कर पटक दिये, जिससे वीरभद्र की उत्पत्ति हुई। कुपित शिव ने उसे दक्ष के यज्ञ-ध्वंस के लिए आदिष्ट किया। फिर क्या था! वीरभद्र ने आकर यज्ञ को विकृत कर दिया और यज्ञ रक्षकों का संहार भी। इस कथा का वर्णन अनेक पुराणों एवं महाभारत में मिलता है।[4]

श्रीजगद्धरभट्ट ने इस कथा का उल्लेख अपनी कृति में किया है। कवि कहता है—नीति को जानने वाले परम चतुर दक्ष प्रजापति ने भी प्रभु को अपमानित करने के लिए अपने

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 20/9
2. श्रीमद्भागवत महापुराण, 7/7, मत्स्यपुराण, अध्याय 250, महाभारत, आदिपर्व, 18/42, 43
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/5
4. भागवत महापुराण, 4/7, वायुपुराण, अध्याय 25/63, 30/30-281, मत्स्यपुराण, अध्याय 13/12, 18-19; महाभारत, सौप्तिक पर्व, 18/1-23, शान्तिपर्व 186/6, 191; अनुशासन पर्व 150/14

यज्ञ में नहीं बुलाया, पर बाद में उसने अपनी त्रुटियों पर पश्चात्ताप करते हुए दयासागर शिव की प्रार्थना की और शिव भी उसकी अभिलाषा पूर्ण किए—

> यज्ञे नयज्ञेन वृतो न पूर्वं,
> दक्षेण दक्षेण शुभे विधौ यः।
> तस्याऽऽनतस्याऽनघमुज्झिताव-
> सादं प्रसादं प्रददौ दयाब्धिः॥[1]

इसी प्रकार अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

> विशदशोभयशोभय शोभय,
> त्रिजगदक्षम-दक्ष-मदक्षम।
> स्वपदमानय मानय मा नय-
> क्षत-समक्ष-यमक्षयमक्षय॥[2]

अर्थात् हे प्रभो! आप अभयदान देने वाले हैं। हे उद्धत प्रजापति के मद को चूर करने वाले प्रभो! आपको प्रणाम है।

श्रीसदाशिव की कुछ कथाएँ अन्य देवताओं से भी सम्बन्धित हैं। जिनका पुराणों में पर्याप्त विवेचन है। कवि ने उन कथाओं का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, उदाहरण के लिए कुछ स्थल अवलोकनीय हैं।

कार्तिकेय की कथा

गणेश एवं कार्तिकेय भगवान् शङ्कर के दो पुत्र हैं। यह बात सर्वविदित है। मत्स्यपुराण में कहा गया है कि देवी की वामकुक्षि को फाड़कर छह मुख वाला पुत्र पैदा हुआ। क्षरण होने के कारण उसका नाम स्कन्द पड़ा। देवताओं ने देवासुर संग्राम में उसे सेनापति पद पर अभिषिक्त किया। इन्द्र ने देवसेना नामक अपनी कन्या को उन्हें पत्नी रूप में समर्पित किया एवं अन्य देवों ने भी उन्हें नाना प्रकार के उपकरण प्रदान किए, जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने तारकासुर का विनाश किया।[3] महाभारत में उन्हें रुद्र से उत्पन्न बतलाया गया है—

> मिथुनं ते महाभाग! तत्र तद् रुद्रसम्भवम्।
> भूतं लोकहितोद्देशे शुक्रशेषमिवापतत्॥[4]

ब्रह्मवैवर्त पुराण के एक पद्य में भी इनका संक्षिप्त उल्लेख है—

> कुमारस्तु महावीर्यः कार्तिकेय इति स्मृतः।
> गाङ्गेयपूर्वमभवन्महाकायो बलान्वितः॥[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 26/9
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/30
3. मत्स्यपुराण, अध्याय 159-60
4. महाभारत, वनपर्व, 188/8-50
5. महाभारत शल्यपर्व, 44/6-37

उत्तिष्ठतो महेशस्य त्रास-लज्जायुतस्य च।
भूमौ पपात तद्वीर्यं ततः स्कन्दो बभूव ह।।[1]

स्तुतिकार श्रीजगद्धरभट्ट ने इसे इस प्रकार उल्लिखित किया है—जिस सदाशिव ने तारकासुर नामक महान् दैत्य को मारने के लिए स्वामी कार्तिकेय को उत्पन्न किया, उन्हें हम प्रणाम करते हैं—

नमः समुत्पादिततारकद्विषे, नमस्त्रिधामाश्रिततारक द्विषे।
नमो जगत्तारकपुण्यकर्मणे नमो नमस्तारकराजमौलये।।[2]

मदन दहन की कथा

देवताओं की प्रेरणा से एक बार कामदेव भगवान् शङ्कर की समाधि भङ्ग करने के लिए कैलास पर्वत पर प्रस्थान किए और उन्हें नाना प्रकार के बाणों का प्रहार कर तपस्या से विचलित करने लगे। एकान्त वातावरण में काम के इस क्रूराचार ने शिव को विचलित कर दिया, फलतः वे क्षुब्ध होकर काम को भस्म कर दिये। मदनदहन की कथा शिवपुराण एवं अन्य पुराणों में भी प्राप्त होती है।[3]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इस कथा का निर्देश इस प्रकार है—जिसने मदोन्मत्त कामदेव के अहङ्कार रूप ज्वर का भार समाप्त किया, उस शिव को प्रणाम है—

नमः समदकन्दर्पदर्पज्वर-भरच्छिदे।
दुर्वारभवरुग्भङ्गभिषजे वृषलक्ष्मणे।।[4]

.भक्त अपने दुःख-निवारण के क्रम में कहता है कि अतिरमणीय तेज के निधान सूर्य देव जिसकी दक्षिण दृष्टि में आश्रित हैं, ललाट स्थित जिस अग्नि रूप दृष्टि में काम और यम को भस्म कर दिया, वे दृष्टियाँ मेरे समस्त दुखों का नाश करें—

यामाश्रितोऽम्बरमणी रमणीयधामा,
कामान्तकावनलसानलसाद्धधाद्या।।[5]

अतुल पराक्रम द्वारा प्राप्त अहङ्कार के ज्वर से जलते हुए कामदेव को भस्म करने वाले शिव की जय हो—

जयत्यतुलविक्रमोन्मिषदखर्वगर्वज्वर-
ज्वलच्चपलमन्मथोन्मथनभग्नभोगस्पृहः।।[6]

अपमानपूर्वक भी हृदय में समर्पित किए हुए जिसके दृष्टिपात से कामदेव अपनी रति और प्रीति नामक पत्नियों से वियुक्त हो गया—

---

1. ब्रह्मवैवर्त, भाग-3, अध्याय 142
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/27
3. शिवपुराण, पार्वतीखण्ड 19/17, लिङ्गपुराण, 68/40-41
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/8
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/39
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/6

आरूढरीढमपि येन समर्पितेन
प्रीतिं रतिं च हृदि विस्मरति स्म कामः।।[1]

इन सभी पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त कवि ने विभिन्न अवतारों में आविर्भूत विष्णु द्वारा शिव की आराधना करने एवं उनको शिव द्वारा अभीष्ट फल की प्राप्ति करने आदि का उल्लेख किया है।

राम द्वारा शिव की आराधना

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने अपनी पूजा से भगवान् शङ्कर को प्रसन्न कर दैत्यों के विनाश का आशीर्वाद प्राप्त किया था। इसका उल्लेख ब्रह्मवैवर्तपुराण में मिलता है।[2]

स्तुतिकार ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर राम द्वारा शिव की आराधना एवं उनसे आशीर्वाद प्राप्ति आदि का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल देखे जा सकते हैं, हे प्रभो! आपके जिस अनुग्रह को प्राप्त कर राम ने वशिष्ठ, विश्वामित्र प्रभृति ऋषियों की तपस्या में विघ्न करने वाले दुष्ट रावण को मारने में सफलता प्राप्त की एवं आपके चरणारविन्दों में रह कर अमोघ शक्ति प्राप्त की उस अनुग्रह को मेरे ऊपर कीजिए।[3] इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी शिव द्वारा श्रीराम के आशीर्वाद प्राप्त करने की बातों का उल्लेख किया है।[4]

श्रीकृष्ण द्वारा शिव की आराधना

श्रीकृष्ण ने लोकोपकार की भावना से अमोघ शक्ति अर्जित करने के लिए भगवान् शङ्कर की उपासना प्रारम्भ की। उन्होंने पूजा के समय एक कमल के घट जाने पर भक्ति के अतिरेक में अपने नेत्र कमल को ही समर्पित कर दिया, इनकी इस अनुपम भक्ति से प्रसन्न श्रीशिव ने इन्हें अपना सुदर्शन चक्र समर्पित कर दिया। इस कथा का विवेचन श्रीमद्भागवत,[5] महाभारत[6] आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसका निर्देश अनेक स्थलों पर है।

परशुराम द्वारा शिव की आराधना

जामदग्न्य परशुराम महादेव के शिष्य थे। उन्होंने घोर तपस्या करके शिव को प्रसन्न किया था और अमोघ शक्ति का आशीर्वाद प्राप्त किया था। महाभारत के कर्ण पर्व में इस कथा का उल्लेख विस्तार के साथ मिलता है।[7] श्रीजगद्धरभट्ट ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में एक स्थल पर इसका उल्लेख किया है।[8]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/19
2. ब्रह्मवैवर्तपुराण, 123/195
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 27/8
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 14/28, 20/8, 27/6, आदि
5. भागवत महापुराण, 10/10, 26-27 आदि
6. महाभारत, अनुशासनपर्व, 14/429
7. महाभारत, कर्णपर्व, 34/154
8. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/5

असुरों से सम्बद्ध शिव के उपाख्यान

देवताओं की तरह असुरों ने भी शिव की उपासना कर अमोघ शक्ति प्राप्त किए थे। इन असुरों से सम्बन्धित कथाओं का भी निर्देश कवि ने कुसुमाञ्जलि में किया है। कुछ स्थल निम्न हैं—

शुक्राचार्य से सम्बन्धित शिवोपाख्यान

शास्त्रों में कहा गया है कि असुरों के गुरु श्रीशुक्राचार्य की उत्पत्ति श्रीशिव (रुद्र) के अंग विक्षेप से हुई थी।[1] स्तुतिकार ने अपने स्तोत्र-काव्य के एक पद्य में इस प्रकार कहा है—

काव्यस्योदयभूरसौ भवतु वः प्रीत्यै पुराणः कविः।।[2]

यहाँ पर काव्य का अर्थ शुक्राचार्य है—

शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः।[3]

इस प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि के अन्तर्गत अनेक प्रकार की कथाओं का संक्षिप्त रूपेण उल्लेख किया है। कवि ने जगह जगह पर श्रीशङ्कर द्वारा मारे गये अंधकासुर,[4] त्रिपुरासुर[5] एवं तारकासुर[6] आदि दैत्यों का भी उल्लेख किया है।

ऋषि-मुनियों से सम्बन्धित शिव सम्बन्धी उपाख्यानों में इन्होंने विश्वामित्र,[7] उपमन्यु,[8] ब्रह्मा[9] आदि की कथाओं का भी उल्लेख किया है। ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्धित शिव सम्बन्धी उपाख्यानों में ऊषा-अनिरुद्ध,[10] रावण,[11] अर्जुन,[12] राजा श्वेत,[13] भगीरथ[14] एवं राजा मरुत[15] आदि का उल्लेख किया है।

इस प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कवि ने पौराणिक कथाओं का यत्र-तत्र उल्लेख कर भक्ति के प्रवाह में नैरन्तर्य का विधान कर दिया है।

❑

1. महाभारत, शान्तिपर्व, 289/32
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/57
3. अमरकोष, प्रथम काण्ड, दैवतवर्ग
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/7, 11/86, 13/18, 15/2 आदि
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/7, 7/3, 8/18 आदि
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/27
7. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15/31
8. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/5, 9/12, 20/3 आदि
9. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/39; स्तुतिकुसुमाञ्जलि की हिन्दी टिप्पणी, पृ. 106
10. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15/40
11. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/6, 8/4, 14/18, 20/7, 28/17 आदि
12. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/30, 8/7, 20
13. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/19
14. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 20/4
15. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/5

तृतीय अञ्जलि : अन्त:पक्ष

शिव स्वरूप विवेचन

शीङ्–शयने धातु से शिवमस्यास्ति। अर्शआद्यच्–5–2–127 से अच् प्रत्यय करने पर शिव शब्द की निष्पत्ति होती है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'शिव' शब्द के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं—

> शेतेऽस्मिन्निति शिव:। शिवयतीति वा, ण्यन्तात्पचाद्यच्।
> शिवं कल्याणं विद्यतेऽस्येति शिव:।
> श्यति अशुभमिति शिव:।
> शेतेऽवतिष्ठन्ते अणिमादयो गुणा अस्मिन्निति शिव:।

यद्यपि शिव के वास्तविक स्वरूप और उनके ऐश्वर्य का निश्चित रूप से वर्णन करना वाणी से परे है। कालिदास ने भी कहा है—

> न सन्ति याथार्थ्यविद: पिनाकिन:।[1]
> न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपु:।।[2]

तथापि वैदिक काल से ही शिव के स्वरूप और महिमा का यथानुभव वर्णन ऋषियों द्वारा किया गया है। पुराण साहित्य में शिवपुराण और वायुपुराण शिव के ही नाम रूपों का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुत: परब्रह्म को ही लोककल्याणकारी होने के कारण शिव कहा जाता है। इसके दो रूप मिलते हैं—सगुण और निर्गुण। त्रिगुणात्मिका आद्या चित् शक्ति शिव से अभिन्न है। उसकी अभिव्यक्ति से रहित केवल शुद्ध सत्ता, मात्र चैतन्य स्वरूप शिव निर्गुण हैं एवं आद्या शक्ति की लीलाओं से रचित अपनी अभिव्यक्ति होने से शिव सगुण एवं साकार कहलाते हैं।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शिव के सगुण एवं निर्गुण, दोनों रूपों का विवेचन हुआ है, परन्तु स्तुतिकुसुमाञ्जलि के भक्ति काव्य होने के कारण सगुण रूप की विशेष महत्ता है। जगत् के समग्र विस्तार का एकमात्र कारण तत्त्व शिव हैं—

> हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे
> भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।।[3]

---

1. कुमारसम्भवम्, 5/77
2. कुमारसम्भवम्, 5/72
3. ऋग्वेद, 10/121/1

इसी एक चिरन्तन तत्त्व को विभिन्न रूपों में देखा और कहा गया है, 'एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति'।[1] ये सर्वात्मा विभु उत्पत्ति, पालन और संहार के लिए क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का रूप धारण करते हैं। कुसुमाञ्जलि में कवि ने अपने आराध्य के विविध रूपों का वर्णन कर उनके प्रति भावों की वीथि सजायी है।

शिव के विभिन्न रूप

श्रीजगद्धरभट्ट ने शिव के कल्याणकारी स्वरूप का सबसे अधिक वर्णन किया है। भक्त कवि जगत् कल्याण की भांवना से अनुप्राणित होकर राष्ट्र मङ्गल की कामना करता है—

> यद्दर्शनामृतसुखाऽनुभवेन धन्याः,
> नेत्रोत्पलानि चिरमर्धनिमीलितानि।
> दृङ्मार्गगोचररवीन्दुकरप्रसङ्ग-
> भङ्ग्येव बिभ्रति शिवः शिवदः स वोऽस्तु।।[2]

अर्थात् भाग्यशाली लोग जिसके दर्शनामृत के पान से आनन्द में अर्द्धनिमीलित नयन हो जाते तथा शिव भी लोक के त्रिविध ताप की शान्ति के लिए अर्द्धनिमीलित नेत्र रहते, वे प्रभु सदाशिव जगत् का कल्याण करें।

दीनाक्रन्दनस्तोत्र के एक पद्य में कवि अपने आराध्य से अपनी तुलना करने के व्याज से उनके परममाङ्गलिक रूप की महिमा का गान करता है। कवि कहता है कि हे नाथ। आप निर्गुण हैं तो मैं भी निर्गुण (गुण रहित) हूँ। आपका धाम शून्य है तो मेरा भी धाम शून्य (अकिंचन) है। आप गौ पर स्थित हैं तौ मैं भी गौ (पृथ्वी) पर स्थित हूँ। अन्तर केवल इतना ही है कि आप लोकोपकारिन् शिव हैं और मैं अशिव हूँ—

> त्वं निर्गुणः शिव तथाहमथ त्वदीयं
> शून्यं परं किमपि धाम तथा मदीयम्।
> त्वं चेद्गवि प्रविदधासि धृतिं तथाहं
> कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम्।।[3]

इसी प्रकार दीनाक्रन्दनस्तोत्र के अन्य पद्यों[4] में भी कवि ने उनके शिव रूप का सफल चित्रण किया है। जहाँ कवि वाणी और मन से परे शिव के निर्गुण रूप की व्याख्या करता है वहीं उनके सगुणात्मक रूप को नाना प्रकार से सुसज्जित कर अपने हृदय में लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करता है। शिव रूप दर्शन से कवि अपने को कृतार्थ समझता है। वह कहता है जिसमें शेषनाग प्रभृति सर्प केयूर की शोभा पाते हैं एवं आकाशगङ्गा जिनके मस्तक पर उल्लसित हो रही हैं वे कामारि शिव आपकी इच्छा पूर्ण करें—

---

1. ऋग्वेद, 1/164/46
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/18
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/18
4. कुसुमाञ्जलि, 11/93

अङ्गं भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गितुङ्गं
त्वङ्गत्तरङ्गगगनाङ्गनसङ्गिगङ्गम्।
बिभ्रद्विभुर्विहितरङ्गदनङ्गभङ्ग-
मङ्गीकरोत्वरमभङ्गुरमिङ्गितं वः।।[1]

अर्द्धनारीश्वर रूप

यह शिव का अतिअद्भुत एवं प्रसिद्ध रूप है। आगम शास्त्र में इसे प्रकाश एवं विमर्श रूप माना गया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार प्रजापति ब्रह्मा द्वारा जब सृष्टि का विकास सम्भव नहीं हो सका तो उन्हें बहुत खेद हुआ। इनकी उद्विग्नावस्था को देखकर आकाशवाणी हुई, भगवन्! मैथुनी सृष्टि कीजिए। किन्तु पूर्वकल्प में ईशान परमात्मा द्वारा नारी कुल के निर्गत नहीं होने से वे उसमें भी असमर्थ रहे। फलतः उन्होंने तपस्या की और शिव को प्रसन्न कर लिया। प्रसन्न आशुतोष अर्द्धनारीश्वर रूप धारण कर ब्रह्मा के पास गये और अपने शरीर में स्थित शक्ति अंश को पृथक् किये। ब्रह्मा ने उस महादेवी की स्तुति की और सृष्टि की—

नारीणां कुलमीशान्निर्गतं न पुरा यतः।
ततो मैथुनजां सृष्टिं कर्तुं शेके न पद्मभूः।।
शिवाय परया शक्त्या संयुक्तं परमेश्वरम्।
संचित्य हृदये प्रीत्या ततप परमं तपः।।
अचिरेणैव कालेन तुतोष सः शिवः स्वयम्।
अर्द्धनारीश्वरो भूत्वा ययौ ब्रह्मान्तिकं तदा।।
तं दृष्ट्वा शङ्करं देवं शक्त्या परयान्वितम्।
प्रणम्य दण्डवद् ब्रह्मा स तुष्टाव कृताञ्जलिः।।
चराचरविवृद्ध्यर्थम् अंशेनैकेन सर्वगे।
दक्षस्य मम पुत्रस्य पुत्री भव भवान्तिके।।
तामाज्ञां परमेशस्य शिरसि परिगृह्य च।
ब्रह्मणो वचनाद्देवी दक्षस्य दुहिताऽभवत्।।[2]

शिव और शक्ति एक दूसरे से उसी प्रकार अभिन्न हैं, जिस प्रकार सूर्य और उसका प्रकाश, अग्नि और उसका ताप तथा दूध और उसकी सफेदी। शिव की आराधना शक्ति की आराधना है और शक्ति की उपासना शिव की उपासना है। शिव एवं शक्ति की विषमता एवं विरोध का सामञ्जस्य ही परमात्म तत्त्व का रहस्य है। इन सभी सिद्धान्तों एवं मान्यताओं को बुद्धिस्थ कर महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शिव के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप का वर्णन किया है। इन्हें एक ही विग्रह में शिव और शिवा के स्वरूप का भान होता है। कवि कहता है—

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/8
2. शिवपुराण, 3/3/4, 7, 8, 9, 18, 22, 27

वन्दे मह्यमलमयूखमौलिरत्नं
देवस्य प्रकटितसर्वमङ्गलाख्यम्।
अन्योन्यं सदृशमहीनकङ्कणाङ्कं
देहार्धद्वितयमुमार्धरुद्धमूर्तेः।।[1]

अर्थात् जहाँ एक तरफ चन्द्रमुकुट को धारण किए हुए, सम्पूर्ण मङ्गलों के दायक शिव नाम से सुशोभित और वासुकी आदि सर्पों का आभूषण धारण किए शिव का देहार्थ है वहीं दूसरी ओर अर्द्धचन्द्र मुकुट धारण की हुई भगवती सर्वमङ्गला बहुमूल्य अलङ्कारों से अलङ्कृत हैं। इस प्रकार उमार्ध से अवरुद्ध मूर्ति वाले शिव के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप के दोनों अर्द्धभाग को प्रणाम करते हैं।

एक ही शरीर में एक तरफ शिर पर विराजमान चन्द्रखण्ड वामाङ्ग में शोभित होने वाले मुखचन्द्र खण्ड की समानता करता है, तो दूसरी ओर वामाङ्ग में मृगशावक की चितवन वाली एक आँख, रत्नकलश से विभूषित अर्द्धवक्षः स्थल, कृशता युक्त अर्द्धकटि भाग, भ्रमरों की लड़ी सी अर्धकेशों की वेणी एवं अतीव विशाल एक नितम्ब सुशोभित हो रहा है।[2]

जहाँ एक ओर दक्षिणाङ्ग, भस्म विभूषित होने से धवल वर्ण कैलास की कान्ति धारण कर रहा है वहीं वामाङ्ग कुङ्कुमयुक्त अंगराग से विलिप्त होकर सूर्य की तरह पीताभ सुवर्ण शैल को तिरस्कृत कर रहा है—

यत्रार्धं घटयति भूरिभूतिशुभ्रं,
चन्द्रांशुच्छुरितंकुबेरशैलशोभाम्।
अर्धं च प्रणिहितकुङ्कुमाङ्गरागं
पर्यस्तारुणरुचिकाञ्चनाद्रिमुद्राम्।।[3]

जिस अर्द्धनारीश्वर शरीर में एक तरफ शिव द्वारा—हे प्रियतमे! सांसारिक वासनाओं से तप्त लोगों के कल्याण हेतु तुमने अद्भुत प्रगल्भता धारण की है, कहा जाता है। वहीं पार्वती द्वारा—हे प्रियतम! बड़ा आश्चर्य है कि भवभय-पीड़ित आर्त्तजनों के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करने के लिए आपने विलक्षण प्रगल्भता धारण की है, कहा जाता है। इस प्रकार अभिन्न भाव से मिले हुए शिव और शिवा का एक ही मुख से निकला हुआ यह वाक्य परस्पर समरसता को प्राप्त करता है—

आश्चर्यं तव दयिते हितं विधातुं
प्रागल्भ्यं किमपि भवोपतापभाजाम्।
अन्योन्यं गतमितिवाक्यमेकवक्त्र-
प्रोद्भिन्नं घटयति यत्र सामरस्यम्।।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/1
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/4, 5
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/6
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/8

प्रभु के अर्द्धनारीश्वर शरीर में दक्षिणाङ्ग द्वारा किए गए गाढालिंगन से वामाङ्ग कम्पित हो जाता है और वामाङ्ग द्वारा किए गए आलिंगन से दक्षिणाङ्ग शीतल मन्दाकिनी के जल में स्नान करने की तरह रोमांचित हो जाता है।[1]

कवि कहता है, प्रभु के स्तवन एवं अर्चन के समय प्रणाम करने वाले भक्त संदेह में पड़ जाते हैं कि यह शिव हैं कि शिवा हैं—

> किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवा-
> विति यत्र वन्दनविधौ भवति।।[2]

कवि उत्प्रेक्षा करता है कि अर्द्धनारीश्वर शरीर मानो शिव और पार्वती के हृदय की अभिन्नता को द्योतित करने के लिए बाह्य रूप से भी अभिन्न बना हुआ है।[3]

शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप के अलौकिक सौन्दर्य की झांकी प्रस्तुत करते हुए कवि का कहना है कि जिसके ऊर्ध्व भाग में जटाजूट पर विराजमान वासुकी के मस्तक की इन्द्रनील मणियों की कान्ति से श्यामल करती हुईं, अधोभाग की भालस्थ नेत्र की वह्नि ज्वालाओं से पीला बनाती हुई और मध्यम में स्वयं सुधा के समान स्वच्छ छवि वाली कुटिल चन्द्र कला, जिससे प्रतिबिम्बित होकर इन्द्रधनुष की शोभा धारण करती है, पार्वती और परमेश्वर का वह दिव्य पयोधर–मेघ आप लोगों के लिए परमानन्द की वृष्टि करे—

> जूटाहेर्मुकुटेन्द्रनीलरुचिभिः श्यामं दधत्यूर्ध्वगं,
> भागं वह्निशिखापिशङ्गमधरं मध्ये सुधाच्छच्छविः।
> धत्ते शक्रधनुःश्रियं प्रतिमितां यत्रेन्दुलेखानृजु-
> र्युष्माकं स पयोधरो भगवतोर्हर्षामृतं वर्षतु।।[4]

हरिहरस्वरूप

अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की तरह हरिहरस्वरूप भी आश्चर्योत्पादक है। कवि ने हरिहराष्टकस्तोत्र में शिव के हरिहर स्वरूप का सफल चित्रण किया है। एक ही मूर्ति में शंकर और विष्णु दोनों के दर्शन बड़े ही सुखावह हैं।

इनके हरिहर स्वरूप में एक ओर पार्श्ववर्तिनी लक्ष्मी, हाथ में पाञ्चजन्य शङ्ख एवं वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि, विष्णु भागार्थ को सुशोभित कर रहा है एवं दूसरी ओर मुकुट पर चन्द्रमा, कण्ठ में विष एवं करतल में अमृत कलश शिव भागार्थ की महिमा को परिमण्डित कर रहा है।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/9
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/18
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/20
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/24
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/1

सर्पराज वासुकी जहाँ एक ही विग्रह में जटाजूट बांधने एवं शयनपीठ दोनों उपयोगिताओं का स्मरण कर आनन्दमग्न हो जाते हैं कि मैं धन्य हूँ कि हरि और हर, दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा हूँ—

आपीडबन्धनविधौ शयने च वर्ष्म,
पर्याप्तभोगविभवं बहु मन्यमानः।
यत्र प्रहृष्यतितरामुरगाधिराजः
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः।।[1]

उस समय का बड़ा ही मनोहारी दृश्य प्रस्तुत किया गया है जब हरिहर स्वरूपधारिन् शिव के देहार्ध, शिव भाग की पूजा भगवती पार्वती नीलकमलों से कर रही हैं और विष्णु रूप देहार्ध की पूजा जाती पुष्पों द्वारा भगवती लक्ष्मी कर रही हैं—

अर्धं यदुत्पलदलैरुमयेन्दुगौर-
मर्धं श्रियार्चितमलिद्युतिमालतीभिः।
विच्छित्तिमेत्यनिमिषेक्षणशुक्तिपेयां
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः।।[2]

कवि कहता है कि हरिहर स्वरूप में एक ही साथ विष्णु भाग के केशों पर स्थित मेघ, शिव की नेत्राग्नि और मस्तक पर शोभित होने वाली गङ्गा का घोष एवं चमक विद्युत् की शोभा धारण करता है—

केशाश्रिता नयनवह्नि-शिखाभ्रसिन्धु-
झाङ्कारगर्भवपुषो जलदा वहन्ति।
यत्राद्भुतं स्थिरतडिद्रसितप्रसङ्गं
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः।।[3]

विष्णु के नाभि-कमल पर ब्रह्मा की स्थिति मानी जाती है। किन्तु विष्णु के अर्धभाग होने से कमल अत्यन्त संकुचित है, जिसके संकोच खेद को सहने में असमर्थ ब्रह्मा भी अपने शरीर को अर्ध बना देना चाहते हैं।[4] अन्त में कवि ने इनके अद्भुत स्वरूप की बड़ी अनूठी परिकल्पना की है—

पादाग्रनिर्गतमवारितमेव वारि,
यत्राधिरोहति शिरस्त्रिदशापगायाः।
अत्यद्भुतं च रुचिरं च निरङ्कुशश्च
तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपु र्वः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/2
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/3
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/4
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/8
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/8

अर्थात् जिसके एक तरफ विष्णु भाग के अंगुष्ठ से निर्गत गङ्गा का पवित्र एवं मनोहर जल विना किसी रोक-टोक के शिव की जटाओं में आरूढ़ हो जाता है वह शिव का अद्भुत स्वरूप आपकी रक्षा करे।

अष्टमूर्तिस्वरूप

श्रीसदाशिव की आठ मूर्तियाँ सुप्रसिद्ध हैं, वे हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, यजमान, चन्द्रमा और सूर्य। महाकवि कालिदास ने भी अष्टमूर्ति शिव की स्तुति की है।[1] वस्तुत: अष्टमूर्ति शिव की कल्पना विश्व की कल्पना है।

महाकवि ने शिव की आठों मूर्तियों का पृथक्-पृथक् स्तवन किया है। इनके अनुसार शिव की पृथ्वी मूर्ति शेषनाग की मस्तक रूपी सिंहासन पर विराजमान है और यह औषधियों द्वारा विश्व की रक्षा करती है। जगत् के बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता का कारण जल इनकी द्वितीय मूर्ति है। संसार में जठराग्नि, दावाग्नि और वाडवाग्नि के रूप में प्रसिद्ध शिव की तृतीय अग्निमूर्ति है। प्राणपानादि पंच वायुओं के रूप में रहने वाली वायु भी शिव की चतुर्थ मूर्ति है। शब्दगुणात्मक आकाश पञ्चममूर्ति है। यह सूर्य और चन्द्रमा का आधार है तथा चन्द्र सूर्य काल के आधार हैं।

ब्रह्मा के मुखारविन्द से निर्गत श्रुतियों को जो कल्याणदायक सत्कर्मों में सफलीभूत करता है वह समस्त क्लेशादि से रहित यजमान मूर्ति से प्रभु की विभूति है। शुक्ल पक्ष में देवता लोग जिसकी पीयूष कल्प किरणों से अपनी प्राण यात्रा करते तथा कृष्ण पक्ष में जो पितरों की पारणा है वह चन्द्रकला भी ईश्वर के विग्रह का एक अंश है, ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण तेज का कारण सूर्य शिव का अष्टम विग्रह है।[2]

इस प्रकार कवि ने शिव की अष्टमूर्तियों का पृथक्-पृथक् वर्णन कर चतुर्दश प्रकार के भूतसृष्टि के मूल कारण ब्रह्म स्वरूप श्रीसदाशिव के चरणों में प्रणति समर्पित करता है—

> दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं यन्महद्बीजभूतं
> भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तुजातं विवर्तः।
> यस्मिन्हेम्नीव नानाभरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते,
> तद्भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते।।[3]

इसी प्रकार कवि ने संक्षिप्त रूप से शिव के विभिन्न अवतारों—नन्दी, वीरभद्र, भैरव आदि का भी वर्णन किया है। इस स्तोत्र-काव्य में सोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकालेश्वर, अमरेश्वर, केदारेश्वर, भीमशंकर, विश्वेश्वर, त्र्यम्बकेश्वर, वैद्यनाथेश्वर, नागेश्वर, रामेश्वर एवं घुश्मेश्वर इन द्वादश ज्योतिर्लिंगों का स्तुति क्रम में संकेत किया गया है, परन्तु इनका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

---

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1/1
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33 स्तोत्र के पदों के आधार पर
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/44

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मात्र कश्मीर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत में शिवलिङ्गों की पूंजा एवं आराधना पूर्णरूपेण प्रचलित थी। उत्तर में प्राचीनकाल से ही शैवधर्म का विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विकास हो चुका था। स्तुतिकार ने अपनी कृति में शिव की व्यापकता एवं विभिन्न अवतारों का वर्णन किया है।

शिव के वस्त्र एवं आभूषण

कवि ने शिव के विविध आभूषणों का आश्चर्योत्पादक विवेचन किया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार गङ्गा को शिव की जटा से निर्गत बतलाया गया है। कवि ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में गङ्गा का प्रयोग शिव की जटाजूट के अलङ्करण के रूप में किया है।[1] इसी प्रकार चन्द्रमा, माला, भस्म, सर्प, मुण्डमाल, कपाल, अमृत कलश आदि को शिव के अलङ्करण के रूप में वर्णित किया है। गजचर्म शिव का वस्त्र है एवं श्मशान उनकी वासभूमि।[2]

इस प्रकार कवि ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शिव के विभिन्न रूपों, आभूषणों, वस्त्रों एवं स्थानों का स्तुति क्रम में वर्णन किया है, जिसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया।

भक्ति विवेचन

भज् सेवायाम् धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—भजना या स्मरण करना। विविध शास्त्रों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भक्ति मार्ग में ज्ञान और योग आदि की अपेक्षा साधन की सरलता है और प्रभु के शीघ्र प्रसन्न होने की सम्भावना भी। साधना के अन्य मार्गों की तरह यहाँ अधिकारी का होनां अनिवार्य नहीं है, क्योंकि ईश्वर भक्ति के आधीन हैं। अत: यह भक्ति अन्य साधन निरपेक्ष होने के कारण श्रेष्ठ है। आचार्यों ने भी भगवदुलब्धि के अनेक साधनों में भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत सहज और सुलभ है। ब्रह्मर्षि नारद भक्ति को कायिक, वाचिक एवं मानसिक– इन त्रिविध तपों से भी श्रेष्ठ मानते हैं, 'अन्यस्मात्सौलभ्यं भक्तौ'।[3] भगवती श्रुति भी सभी धर्मों को त्याग कर भक्ति की गोद में जाने के लिए भक्त को उपदेश करती है—

सर्वोपायान्परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव।
भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किञ्चिदस्ति।।[4]

अर्थात् भक्तिनिष्ठ होवो, भक्ति से सर्व सिद्धियाँ प्राप्त हो जाएंगी। भागवत्कार कृष्णद्वैपायन कहते हैं कि जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि में समर्पित काष्ठ पुंज भस्म हो जाता है, उसी प्रकार भक्ति मनुष्य के सभी पापों को नष्ट करने में समर्थ है—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषयाभक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/28, 17
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/28, 17
3. प्रेमदर्शन, पृ. 113
4. त्रिपाद्विभूति, महानारायणोपनिषद्, अध्याय 8, पृ. 382
5. श्रीमद्भागवत महापुराणम्, 11/14/19

मुक्ति भक्तिसुखसागर के एक परमाणु की भी समता नहीं कर सकती। मुक्ति भक्ति की अनुचरी सदृश है—

हरिभक्तिःमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
मुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः।।[1]

भक्ति के स्वरूप का निर्वचन अनेक लोगों ने किया है। महर्षि शाण्डिल्य ने ईश्वर के प्रति परानुरक्ति को भक्ति माना है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे'[2] नारदभक्तिसूत्र में बतलाया गया है कि भक्ति प्रेमरूपा और अमृतरूपा है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतरूपा च। यँल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति। अमृतो भवति। तृप्तो भवति।।[3]

श्रीरामानुजाचार्य की दृष्टि में परमात्मा के स्वरूप में ध्यान की एकाग्रता ही भक्ति है—

स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।।[4]

भक्ति का निर्वचन करते हुए भागवत्कार कहते हैं, मनुष्यों के लिए श्रेष्ठ वही है जिसके द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण में ऐसी भक्ति हो, जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और सदा बनी रहे। इस प्रकार की भक्ति से भक्त अपने आराध्य को प्राप्त कर पूर्ण काम हो जाता है—

सर्वपुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहेतुभ्यः प्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।।[5]

इसी से मिलता-जुलता भक्ति का स्वरूप नारदपाञ्चरात्र में प्रतिपादित किया गया है। इसमें कहा गया है कि प्रभु के प्रति प्रेम परिप्लुत मन का स्वार्थरहित होकर सदा प्रवाहित होते रहना ही भक्ति है—

मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसंधिर्विनिर्मुक्ताभक्तिर्विष्णुवशंकरी।।[6]

मधुसूदन सरस्वती धर्मबुद्धिपूर्वक भगवद् गुणों का आराधन करने से द्रवीभूत चित्त की अविच्छिन्न तेलधारा की तरह भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति का स्वरूप है। कहते हैं—

द्रुतस्य भगवद्भाव-द्वारा वाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते।।[7]

---

1. भक्तिरसामृतसिन्धुः, पृ. 18
2. शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, 1/21
3. नारदभक्तिसूत्र, 2-4
4. श्रीमद्भगवद्गीता, रामानुजभाष्य, 7/1
5. श्रीमद्भागवद् 2/2/6
6. नारदपाञ्चरात्र, 1/3
7. भक्तिरसायनसूत्र, 3

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपास्य के श्रीचरणों में सर्वतोभावेन अपने को समर्पित कर फलाकांक्षा से रहित मनसा, वाचा एवं कर्मणा उस प्रभु के अलौकिक ऐश्वर्य का भजन एवं मनन करना ही भक्ति का निष्कर्ष है।

इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त आचार्यों ने भक्ति स्वरूप विवेचन में सर्वत्र कृष्ण का ही दृष्टान्त दिया है। इससे यह नहीं कि केवल कृष्णविषयिणी रति ही भक्ति है अपितु यहाँ कृष्ण शब्द उपलक्षण मात्र है। अपने आराध्य के प्रति प्रेम प्रदर्शित करना ही भक्ति का अभिप्राय है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में श्रीजगद्धरभट्ट भी भक्ति को ही सर्वोपरि मानते हैं। उनका कथन है कि सभी पुरुषार्थों में मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है, परन्तु भक्ति की विशेषता जानने वाले लोग मुक्ति को भी भगवान् के दर्शन में (भक्ति में) विघ्न मानते हैं—

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक–
स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख–
लेखा शिखाभरणभक्तिरभंगुरा वः।।[1]

इससे स्पष्ट है कि श्रीजगद्धरभट्ट भी मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। इनका दृढ़ विश्वास है कि शिव भक्ति प्राप्त हो जाने पर किसी अन्य सुख की इच्छा नहीं होती—

शान्तं मनो यदि यमैर्नियमैः किमन्यैः
वाणी यदि प्रियहिता स्तुतिचाटुभिः किम्।
कारुण्यमस्ति यदि किं व्रतहोमदानै–
र्भक्तिर्भवे यदि किमन्यसुखाभिलाषैः।।[2]

इनका कहना है कि जो विद्वान् शास्त्राध्ययन करके मुक्ति को श्रेष्ठ मानते, वे भी गम्भीर विचार करें तो भक्ति ही सर्वोपरि प्रतीत होगी—

भुक्तं विकल्पकवलैः सुरलोकसौख्य–
मालोकिता विविधशास्त्रदृशैव मुक्तिः।
पीता सुधा श्रवणशुक्तिपुटैः समक्ष–
मास्वादिता पुनरियं शिवभक्तिरेव।।[3]

भक्ति की महिमा का ख्यापन करते हुए जगद्धरभट्ट कहते हैं, भक्ति अमोघ रसायन है। सांसारिक लोगों के भवताप शान्ति के लिए कृपालु शङ्कर ने स्वयं विविध शीतल पदार्थों के सार से भक्ति का निर्माण किया है—

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/44
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/34
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/35

किं निर्मिता मुकुटचन्द्रकलां निपीड्य
किं वा शिरःशरणनिर्झरिणीजलेन।
किं वा करस्य कलशामृतसंप्लवेन
भक्तिस्त्वया प्रणयिनां भवतापशान्त्यै।।[1]

कवि प्रभु के ऐश्वर्य में इतना आसक्त है कि उसे प्रभु की कृपा के अतिरिक्त भवसागर पार करने का कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता—

मन्ये नान्यद्भवभयविपत्कातराणां नराणाम्।
मुक्त्वा भक्तिं भगवति भवे शस्यमाशास्यमस्ति।।[2]

इस प्रकार भक्ति को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार कर विविध प्रकार से उसके अनेक पक्षों का वर्णन कवि की काव्य निर्माण चातुरी एवं भक्ति के अगाध प्रवाह का उदाहरण है। यद्यपि स्तुतिकुसुमाञ्जलि कोई शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है, फिर भी शिव भक्ति के पवित्र सागर में डुबकी लगाते हुए कवि ने कहीं-कहीं भक्ति के सिद्धान्तों को भी उद्वेलित किया है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के शिवस्तोत्र होने से इसमें शैव दर्शन की मान्यताएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पूर्णत: व्याप्त हैं। शैवदर्शन में मुक्ति के साक्षात् उपाय, शाम्भव और उसके अन्य सभी उपायों का आधार भक्ति है। भक्ति के विना उपायों के प्रति मनुष्य की रुचि और प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए भक्ति को ही परमोपाय माना गया है—

विना प्रसादादीश्वरस्य ज्ञानमेतन्न लभ्यते।[3]

इस प्रकार भक्ति का उदय शिव कृपा के विना असम्भव है और भक्ति के विना शिव कृपा की प्राप्ति। कश्मीर दर्शन की इन बातों का समर्थन करते हुए स्तुतिकार कहते हैं, हे प्रभो! आपमें भक्ति योग हुए विना आपका अनुग्रह नहीं प्राप्त होता और आपके अनुग्रह के विना आपका भक्ति योग नहीं प्राप्त हो सकता। अत: हे प्रभो! आपके अनुग्रह और भक्ति का योग बीज और अङ्कुर की तरह कार्य-कारण या निमित्त-निमित्ति भाव से रहता है—

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं,
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
भूत्यै परस्पर-निमित्त-निमित्तिभावः।।[4]

भक्ति के भेद के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं—(1) आचार्य परम्परा, (2) भक्त कवियों द्वारा काव्य की वर्णन परम्परा। आचार्य परम्परा का तात्पर्य यह है कि रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थ में भक्ति के भेदोपभेद दिखाये हैं, जैसे— भक्तिरसामृतसिन्धु में भक्ति के दो प्रकार माने गये हैं—(1) पराभक्ति और (2) गौणीभक्ति।

---

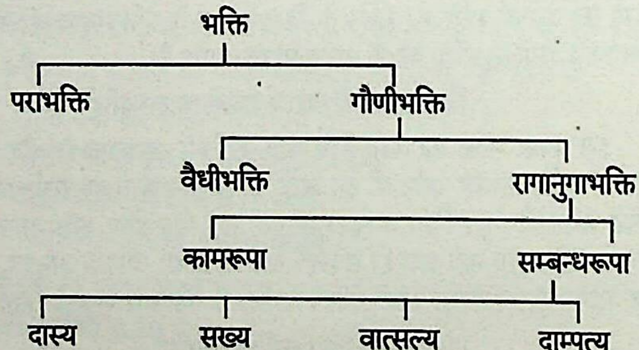
1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/9
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/41
3. स्वच्छन्दशास्त्र, भाग-5, पटल-10, पृ. 703
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/33

पराभक्ति सर्वोच्च भक्ति है। यह सिद्धावस्था की सूचिका है। गौणीभक्ति साधनावस्था के अन्तर्गत आती है। यह भी दो प्रकार की मानी गई है—(1) वैधीभक्ति, तथा (2) रागानुगाभक्ति।

वैधीभक्ति में शास्त्रानुकूल विधि–निषेध का अनुसरण करना पड़ता है। यह मर्यादा का मार्ग है। इसमें भक्त ईश्वर के ऐश्वर्य ज्ञान से सम्पन्न रहता है। रागानुभक्ति भावना राग या प्रेम मूलिका होती है। यह भी दो प्रकार की होती है—(1) कामरूपा, और (2) सम्बन्धरूपा।

गोपियों की भक्ति कामरूपा भक्ति के अन्तर्गत आ सकती है एवं सम्बन्ध रूपा भक्ति भक्त और भगवान् के बीच की कड़ी है। यह चार प्रकार की होती है—(1) दास्य, (2) सख्य, (3) वात्सल्य एवं (4) दाम्पत्य।

दास्य भक्ति के उदाहरण श्रीहनुमान, सख्य भक्ति के उद्धव, वात्सल्य भक्ति के श्रीनन्द एवं श्रीयशोदा तथा दाम्पत्य भक्ति रुक्मिणी और राधा में देखी जा सकती है।[1] तालिका द्वारा इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—



जीवगोस्वामी के अनुसार दाम्पत्य भाव ही माधुर्य भाव है। इस भाव से विभावादि संयोग द्वारा निष्पन्न रस मधुररस या भक्तिरस कहलाता है।[2] नारदभक्तिसूत्र में पराभक्ति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि पराभक्ति को प्राप्त कर भक्त प्रभु प्रेम में विभोर हो उसी को देखता है। उसी को सुनता है। उसी को कहता है और उसी की चिन्ता करता है।[3]

भक्त कवियों की काव्य परम्परा में नवधा भक्ति मानी गई है। श्रीमद्भागवत् में भक्ति की महिमा का उल्लेख करते हुए श्रीवेदव्यास ने नव प्रकार की भक्ति मानी है, जिसे नवधा भक्ति के नाम से जाना जाता है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये नवधा भक्ति है—

1. भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ; 59–71
2. उज्ज्वलनीलमणि, पृ. 40
3. नारदभक्तिसूत्र, पृ. 55

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।[1]

श्रवण, कीर्तन और स्मरण, श्रद्धा और विश्वास की वृत्ति के सहायक हैं। पादसेवन, अर्चन, वंदन रूप सम्बन्धी साधन हैं। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भाव सम्बन्धी साधन हैं। दास्य, सख्य और आत्मिनवेदन का सम्बन्ध रागात्मिका भक्ति से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि वैधी भक्ति के अंग हैं। अन्तिम आत्मनिवेदन भक्ति की चरम परिणति है। इस अवस्था में आराध्य और आराधक में भेद नहीं रह जाता। इस प्रकार उपर्युक्त नवधा भक्ति में तीन का सम्बन्ध नाम से, तीन का रूप से और तीन का भाव से है। श्रीवल्लभाचार्य ने उपर्युक्त प्रकारों को भक्ति के साधन का भेद माना है। इन साधनों से दसवीं एक प्रेमरूपा भक्ति का उदय होता है—

साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गतः।
प्रेममूर्त्या स्फुरद्धर्मा स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः।।[2]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि भक्तियुगीन काव्यधारा का एक सजीव उच्छ्वास है। अतः इसमें भी भक्ति के पूर्ण प्रवाह की गहराई है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में नवधा भक्ति का पूर्णरूपेण विवेचन है। जिन्हें कुछ स्थलों पर देखा जा सकता है।

श्रवण

अपने आराध्य के नाम, गुण एवं महिमा आदि को श्रद्धापूर्वक सुनना ही श्रवण भक्ति है। कुसुमाञ्जलि में श्रवणभक्ति अनेक स्थलों पर देखी जा सकती है। कवि कहता है—हे प्रभो! नीच जनों द्वारा गाया जाता हुआ भी आपका नाम भावुक लोगों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है और वह आनन्द इतना विस्तृत होता है कि सम्पूर्ण अंगों में न समाता हुआ रोमांच के व्याज से बाहर निकलने लगता है—

त्वन्नाम पामरजनैरपि गीयमान-
मानन्दमर्पयति यं हृदि भक्तिभाजाम्।
स्वामिन्नमानवयवेष्वखिलेषु नून-
मुद्भिद्यते बहिरसौ पुलकच्छलेन।।[3]

इसी तरह एक स्थल पर कवि कहता है—हे प्रभो! आपके नाम का कीर्तन मुझे आनन्द-सागर में डुबा देता है—

गद्गदोद्गतगिरश्चिरस्थिरप्रेमहेमनिकषोपलोपमम्।
शंसतः शिव शिवेति शाम्भवं नाम कामपि दशां प्रशस्ति मे।।[4]

---

1. श्रीमद्भागवत, 1/5/23
2. वल्लभाचार्य भाष्य, पृ. 49
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/24
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 14/14

इतना ही नहीं, आपके इस पवित्र नाम कीर्तन को सुनने से आपके श्रीचरणों में अनुराग तो बढ़ता ही है। हृदय के समस्त कलुष भी धुल जाते हैं—

संतताकर्णितदर्पकद्विष चित्रचारित्रपवित्रिता श्रुतिः।।[1]

अतः आपके नाम का कीर्तन सुनने वाले श्रोत्रा भी सफल ही हैं।

कीर्तनम्

प्रभु के गुणों का उच्च्च स्वर में गान करना कीर्तन है। कुसुमाञ्जलि में कहा गया है कि हे प्रभो। आपके नाम के गान में तत्पर जिह्वा भी धन्य है—

क्व नाम नामग्रहणोत्सवं विभो-
रभिप्रवृत्ता रसना दिने-दिने।।[2]

अतः दिक्पाल भी जिस प्रभु के चरित्र का गान करते हैं उस परमैश्वर्यशालिन् सदाशिव की मैं शरण हूँ—

फुल्लारविन्दमकरन्दधृतप्रसङ्ग-
भृङ्गाननागुमगुमारवगीतिगर्भम्।
गायन्ति यस्य चरितं हरीतामधीशा
धीःशलिनः कमलिनी पुलिनस्थलीषु।।[3]

हे महादेव! आश्चर्योत्पादक आपके चरित्र का गुणगान करने वाली मेरी वाणी सांसारिक अन्य कर्मों को त्याग कर आपके माहात्म्य गान में लीन है—

दूरीकृतान्यसरणीर्हरिणीव वाणी-
सत्यं पदात्पदमपि क्षमते न गन्तुम्।।[4]

कवि अपने आराध्य के चरितामृत का संकीर्तन करता है—

आलम्बनं सुकविराजगिरामृतानाम्।
संकीर्तनं जयति ते चरितामृतानाम्।।[5]

इसी प्रकार और अन्य स्थलों पर भी शिव के कीर्तन भक्ति का अवलोकन किया जा सकता है।[6]

स्मरणम्

अपने आराध्य के नाम, गुण, माहात्म्य एवं उनकी व्यापकता का निरन्तर ध्यान करना स्मरण भक्ति है। भक्ति के साधनों में भगवान् के नाम की महिमा सर्वोपरि है। भक्त के मन में

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/27
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/26
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/31
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/10
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/11
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/28

कीर्तन करते करते नाम का संस्कार इतना जम जाता है कि सर्वदा उसका स्मरण होता रहता है।

कुसुमाञ्जलि में स्मरण भक्ति का भी सुन्दर चित्रण है। कवि कहता है कि यदि प्रभु की महिमा का स्मरण करने में मेरा चित्त लीन हो जाए तो मैं धन्य हो जाऊंगा—

चित्तं भवद्गुणस्मरणव्रतं च।
भूयो भवन्ति मम चेदहहास्मि धन्य:।।[1]

भगवन्नाम स्मरण से कवि सभी कामादि रिपुओं का नाश सम्भव मानता है—

यदि भवान् विद्धीत हृदि स्थितिम्।
व्यसनसम्पदसौ प्रसरेत्कथम्।।[2]

कवि परिणाम में भयावह सांसारिक विषयों से लिपटे मन को सम्बोधित करता है कि हे चित्त! तू करुणासागर प्रभु के चरणों का स्मरण कर—

यदि समर्थयसे दुरतिक्रमं
कुपितकालभटभ्रकुटीभयम्।
तदचिकित्स्य भवामयभेषजं
भज भुजङ्गमभूषणतोषणम्।।[3]

क्योंकि संसार रूपी मरुस्थल में निरर्थक भ्रमण करने से थके हृदय के तीव्र ताप को मिटाने वाले शिव के चरणारविन्द के स्मरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है—

भवभरुभ्रमखेदकदर्थितं
सुविषमैस्तृषितं विषयोष्मभि:।
मदयते हृदयं मम निर्भरं
भव भवच्चरणस्मरणामृतम्।।[4]

इसी प्रकार और अन्य स्थलों में भी स्मरण भक्ति का प्रयोग बन पड़ा है।

पादसेवनम्

भक्त द्वारा निष्काम भाव से की गई भगवान् की अर्चनात्मिका सेवा ही पादसेवन भक्ति है। इसकी प्रारम्भिक अवस्था गुरुपूजा, मूर्तिपूजा आदि से शुरू होती है। इस प्रकार यह आराधना का प्रथम सोपान है, क्योंकि इससे प्रभु के प्रति अहैतुकी भक्ति का जागरण होता है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर इस भक्ति का उल्लेख है। कवि कहता है कि कौन बुद्धिमान् व्यक्ति होगा जो अविद्या आदि पञ्च क्लेशों से रहित मन के त्रास को दूर करने

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/29
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/8
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/45
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/8

वाले, जन्म, जरा एवं मरण रोगों के विनाशक श्रीसदाशिव के पादारविन्द की सेवा प्रतिदिन नहीं करेगा—

अक्लेशपेशलमलङ्घ्य कृतान्तदूत–
हुङ्कारभङ्गभिदुरं दुरितेन्धनाग्निम्।
को नाम नामयहरं हरपादपद्म–
सेवासुखं सुमतिरन्वहमाद्रियेत।।[1]

भक्त जब प्रभु के चरणों के सेवासुख को समझ लेता है, उसके सामने संसार की सारी वस्तुएँ तुच्छ हो जाती हैं और वह मुक्तकण्ठ भगवान् से भीख मांगता है—प्रभु हमें अपने चरणों की सेवा करने का अवसर प्रदान कीजिए—

आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे,
प्रीतिश्च सिञ्चति न काञ्चन काञ्चनाद्रिः।
जाने परं हर! शरण्यमरण्यमेव
यत्र त्वदङ्घ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्।।[2]

इसी प्रकार और अनेक स्थल हैं, जहाँ पाद सेवनत्मिका भक्ति का सौन्दर्य है। कवि सभी अभिलाषाओं से रहित होकर मात्र प्रभु के श्रीचरणों की सेवा मांगता है—

श्रमक्षामैरङ्गैरगणितभवक्लेशविपदां
कदा स्यान्नस्तृप्तिर्हरचरणसेवासुखरसैः।।[3]

अर्चनम्

भगवान् के सगुण रूप की पत्र, पुष्प एवं फलादि उपकरणों द्वारा पूजा करना ही अर्चन है। यह बाह्य एवं आन्तर दोनो विधियों से की जाती है। मानसिक अर्चना में भगवान् का ध्यान या आत्मसमर्पण पर्याप्त है। किन्तु स्थूल रूप की पूजा में उपकरणों की आवश्यकता होती है। गीता में भगवान् ने कहा भी है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।[4]

कुसुमाञ्जलि में अर्चन भक्ति के भी अनेक स्थल मिलते हैं। कवि कहता है कि जन्म, जरा और मृत्यु की पीड़ा को शान्त करने में समर्थ, अविद्या आदि पञ्चक्लेशों का शमन करने वाला एवं सम्पूर्ण मङ्गलों का मूल स्थान श्रीसदाशिव का अर्चन–रूप महौषधि सर्वोत्कृष्ट है—

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/34
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/7
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/72
4. श्रीमद्भगवद्गीता, 9/26

जयति जन्मजरामरणव्यथा-,
शमसमर्थमनर्थनिवर्हणम्।
सकलमङ्गलधाम सुधामयं,
भगवदर्चननाममहौषधम्।।[1]

तात्पर्य यह है कि शिव की अर्चना अमृत और महौषधि से भी उत्कृष्ट है। इनकी अर्चना मात्र से जीव शिव सायुज्य प्राप्त करता है।[2]

कवि शिवार्चन की प्रशंसा करते हुए कहता है कि हे प्रभो! जो व्यक्ति आपका अर्चन करता है वह शत्रुओं को पराजित कर अज्ञानियों को ज्ञान की घूँट पिला देता है और राजा भी उनके वचनों का उल्लंघन नहीं कर पाते।[3]

इस प्रकार और अन्य स्थलों में भी शिव की अर्चनात्मिका भक्ति का सुन्दर चित्रण हुआ है।

वन्दनम्

भगवान् की महिमा को मन में सजाकर उनकी स्तुति प्रार्थना करना एवं विनम्र भाव से उनकी स्तुति करना वंदन भक्ति के अन्तर्गत आता है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कवि कहता है कि भगवान् के चरणों में वंदन करने के कारण ही मस्तक का नाम उत्तमाङ्ग रखा गया है—

गात्रान्तरातिशयशंसि यदेतदुच्चै-
र्नामोत्तमाङ्गमिति नाथ! शिरो बिभर्ति।
तद्युज्यते भव! भवच्चरणारविन्द-
पीठप्रणामपरमस्य नमस्यमस्य।।[4]

अज्ञानरूपी अंधकार से पीड़ित, आर्त्तजनों के प्रतिपालक, कृपा से अलंकृत ईश की मैं बार-बार वंदना करता हूँ।[5] इसी प्रकार कुसुमाञ्जलि में अन्य स्थलों पर भी वंदनात्मिका भक्ति का सुन्दर प्रयोग बन पड़ा है।[6]

दास्यम्

जब कवि अपने को सेवक और आराध्य को स्वामी मानकर उनके दिव्य चरित्रों का वर्णन करता है वहाँ दास्यात्मिका भक्ति होती है। दास्यभक्ति के अन्तर्गत उन सभी भावों की व्यंजना होती है, जिन्हें एक स्वामीभक्त सेवक, आज्ञाकारी पुत्र और शिष्य अपने स्वामी, माता-पिता एवं गुरु के प्रति प्रकट किया करते हैं। भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/32
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 14/21
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 36/2
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/30
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 26/2
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 13/5, 36/10, 16

अपने उद्धार की प्रार्थना करना ही इसकी सफलता है। श्रीजगद्धरभट्ट की शिव विषयिणी भक्ति दास्य भाव की कसौटी पर भी पूर्णत: खरी उतरती है।

कवि कहता है—हे नाथ! अब तो मेरी वाणी नादस्वर विमोहित मृगी की भाँति आपकी दासी बनकर रहना चाहती है, अब वह इधर–उधर जाने में समर्थ नहीं है—

स्वामिन् विचित्र–चरितस्य तवापदान–,
गीतामृतेषु दृढरूढरतिर्ममेयम्।
दूरीकृतान्यसरणिर्हरिणीव वाणी
सत्यं पदात्पदमपि क्षमते न गन्तुम्।।[1]

कवि दास्यभावोदधि में डुबकी लगाता हुआ कहता है कि यदि सूर्य आपसे अपना मित्रत्व रख कर आपका प्रेम पात्र बन जाता है तो मैं भी नित्य आपके दासत्व को प्राप्त होकर कैसे अप्रिय होऊँगा—

मित्रत्वमेष भवतो गुणिबन्धुतां च,
प्रख्याप्य यदुपगतस्तव वल्लभत्वम्।
दासत्वमेव तव नित्यमुपेत्य भूत्वा,
सेवापरश्च गुणिनां कथमप्रियोऽहम्।।[2]

यहाँ पर भी कवि की दास्य भक्ति स्पष्ट रूप से भासित हो रही है।

सख्यम्

लौकिक जगत् में जो मित्रता का आदर्श है उसे भक्त जब भगवान् के साथ जोड़ देता है और उसकी उपासना करने लगता है सख्यात्मिक भक्ति होती है। वात्सल्यभक्ति की भाँति यहाँ भी भक्त भगवान् के समक्ष अपने हृदय को खोलकर रख देता है।

सख्यभाव की दृष्टि से भी कुसुमाञ्जलि पूर्णत: शोभायमान है। कवि अपने सखा भूतनाथ से अपने मानसिक भावों को नि:संकोच कहता है—हे प्रभो! आपने माँ पार्वती को ऐसा वरदान दिया है कि गिरिजे! तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री से प्यार नहीं करूँगा फिर भी आपने गङ्गा और चन्द्रकला को क्यों अपनाया—

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति,
दत्तं वरं स्मरसि चेद् गिरिराजपुत्र्याः।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दु–
लेखां च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयाश्च।।[3]

इसी प्रकार कुसुमाञ्जलि के अन्य स्थलों में भी सख्यभाव के अनेक पद्य हैं।[4] गोपियों और कृष्ण के सख्यभाव की तरह यहाँ भी कवि और शिव का सख्यभाव चरमोत्कर्ष पर है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/10
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/45
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/17
4. कुसुमाञ्जलि, 20/21, 26/3

शिव को विविध भङ्गिमाओं के साथ मित्र की भाँति उपालम्भ देना, सयुक्तिक प्रश्न करना आदि सख्यभाव का उदात्त निदर्शन है।

आत्मनिवेदनम्

यह नवधा भक्ति में अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट है। इसमें भक्त और भगवान् का भेद मिट जाता है। आत्मनिवेदन के बाद भक्त भगवान् के दिव्य स्वरूप का निरन्तर दर्शन करता रहता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।[1]

कुसुमाञ्जलि में आत्मनिवेदन का स्तुत्य प्रयोग हुआ है। श्लेषमयी भाषा का आधार लेकर कवि कहता है—हे प्रभु! मैं साथ रहने वाली गङ्गा के जल को ही जीवन समझता हूँ। मिट्टी के शिवलिङ्ग को ही महाराज समझता हूँ। न जाने कब उस कल्याण कारिन् प्रभु के दर्शन होंगे। अर्थात् कब उनके पवित्र चरणों में मैं अपने को समर्पित करूँगा—

विचिन्तयञ्जीवनमेव जीवनम्,
समर्थयन् पार्थिवमेव पार्थिवम्।
विभावयन् वैभवमेव वै भवं
कदाश्रये शङ्करमेव शङ्करम्।।[2]

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी आत्मनिवेदन के भाव भरे पड़े हैं। वस्तुतः स्तुतिकुसुमाञ्जलि की रचना के बाद कवि अपने को और अपने स्तुति काव्य को शिव की गोद में समर्पित कर देता है। इससे दूसरा आत्मसमर्पण का क्या तरीका हो सकता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कुसुमाञ्जलि में भक्ति भाव का सर्वाङ्गीण विकास हुआ है। भक्ति शास्त्र के आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा निर्धारित भक्ति के सभी भेदोपभेदों का पूर्ण विवेचन इसमें हो सका है। नवधा भक्ति का विवेचन पूर्ण सफलता प्राप्त किया है।

छन्द विवेचन

विश्ववाङ्मय में संस्कृत साहित्य की प्राचीनता स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मय संस्कृत का आदि साहित्य है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष को वेद का अङ्ग कहा गया है, जिनमें छन्द वेद के पैर के रूप में प्रतिष्ठित है। ऋषियों ने साङ्गवेद के अध्ययन में ही ज्ञान की पूर्णता एवं पुरुषार्थ की सफलता मानी है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[3]

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 11/23
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/23
3. पाणिनीय शिक्षा, 41-42

छन्दस् शब्द की निष्पत्ति **छदि** आछदने धातु से होती है, जिसका अर्थ **छन्दयति आह्लादयति आच्छादयति वा इति छन्दः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार आनन्दित होना या आनन्दित करना होता है। किन्तु वैदिक वाङ्मय में छन्द को बड़े व्यापक अर्थ में लिया गया है। सायणाचार्य ने इसे रक्षा करने या आच्छादन करने के अर्थ में गृहीत किया है **'अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः'**[1] अर्थात् छन्द ऋषि या कवि को अपमृत्यु या किसी भी प्रकार के उपद्रव से रक्षा करता है। वेदों में मन्त्रों की रचना अधिकांशतः छन्दोबद्ध भाषा में ही हुई है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, बृहती पंक्ति आदि वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध छन्द हैं।

छन्द शास्त्र के प्रणेता महर्षि पिङ्गल हैं। इनका छन्दःसूत्र सुप्रसिद्ध है। ज्यों-ज्यों भाषा का विकास होता गया वैसे-वैसे छन्दों की मात्राओं एवं उसके रूपों में भी परिवर्तन होते गये। भरतमुनि की दृष्टि में तो सम्पूर्ण वाङ्मय ही छन्दोमय है। उन्होंने कहा है—

छन्दो हीनो न शब्दोऽस्ति न छन्दः शब्दवर्जितम्।।[2]

छन्द की महिमा का गान करती हुई हमारी उपनिषद् विद्या भी नहीं थकती—

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिराच्छादयन्
यदेभिराच्छादयस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।।[3]

अर्थात् देवता लोग भी मृत्यु के भय से वेद-विद्या में प्रवेश किए। उन्होंने अर्थ को छन्दों से आच्छादित कर लिया वही इसकी वास्तविक उपयोगिता है।

प्रकृत स्थल में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि छन्द कविता का मूल धरातल है, जिसके अभाव में काव्य के जीवन का कोई मूल्य नहीं है। छन्द कविता का अमर संगीत होता है। छन्दो-विधान का मर्मज्ञ विद्वान् ही कविता के गम्भीर तल में जाकर काव्य में सजीवता का आधान कर सकता है।

अलङ्कारशास्त्रियों ने भी छन्द के महत्त्व को स्वीकारा है। व्युत्पत्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य रुद्रट ने व्युत्पत्ति के लिए छन्द को महत्त्वपूर्ण बतलाया है। उन्होंने कहा है छन्द, व्याकरण, कला, लोक स्थिति, पद एवं पदार्थों के सम्यक्तया ज्ञान से उचित एवं अनुचित का परिज्ञान ही व्युत्पत्ति है—

छन्दो व्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरथ समासेन।।[4]

इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं—उपपत्ति, व्याकरण, नामधातु एवं छन्दोबद्ध रचना के निर्माण में जिसने परिश्रम किया है, वह माधुर्य गुण से व्याप्त नानाविध रसों से आप्लावित रचना का श्रवण अनायास रूप से करे—

---

1. ऋग्वेदभाष्य, भूमिका, पृ. 46
2. नाट्यशास्त्र, 14/45
3. छान्दोग्योपनिषद्, 1/4/2
4. काव्यालङ्कार, 1/18

विज्ञानशब्दागमनामधातुछन्दो–विधाने विहितश्रमश्च।
काव्येषु माधुर्यमनोरमेषु कुर्यादखिन्नः श्रवणाभियोगम्।।[1]

अन्य आचार्यों ने भी इसकी पुष्टि की है—

शब्दाश्छन्दोविधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैर्ह्यमी।।[2]

इस सम्बन्ध में आचार्य दण्डी ने बड़ी ही स्पष्ट भाषा में कहा है कि, काव्यरूप–सागर में शब्दार्थरूप रत्न की प्राप्ति करने की इच्छा से तरण करने वाले काव्य–रसिकों के लिए छन्दो विज्ञान ही तरणि है—

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निर्देशने।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गम्भीरं काव्यसागरम्।।[3]

प्रकृति के सुकुमार कवि श्रीसुमित्रानन्दन पन्त छन्द को काव्य मोहिनी की रेशमी विभा पर उसकी इन्द्रजाली कान्ति स्वीकार करते हैं—

"कविता तथा छन्द के बीच घनिष्ठ व बड़ा गहरा सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है। छन्द हृदय कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है, जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते, जिनके विना वह अपनी बंधन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से रागको स्पंदन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।

छन्दोबद्ध शब्द चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं। उसमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है। उनमें राग की विद्युत्धारा बहने लगती है, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[4]

अतः यह स्पष्ट है कि छन्द के सुन्दर एवं सुगठित बंधन में ही अङ्कुरित तथा पल्लवित पुष्पित काव्य वल्लरी पूर्णरूपेण फलित होकर काव्य रसिकों का रसास्वादन करा सकती है। मेरी दृष्टि में छन्दोविधान की सफलता काव्य, विशेषतः स्तुति काव्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना रस एवं अलङ्कार आदि का पूर्ण विन्यास। यह काव्य का मौलिक धरातल है, जो काव्य के लिए लय और ताल की स्फूर्ति प्रदान करता है। छन्द स्तुति काव्य का परिवर्धक ही नहीं जीवन पोषक भी तत्त्व है।

श्रीजगद्धरभट्ट की दृष्टि में काव्यरस की प्रवणता के लिए छन्दों का सम्यक्तया उपनिवेश आवश्यक है—

---

1. कविकण्ठाभरणम्, 1/16
2. काव्यालङ्कार, भामह, 1/9
3. काव्यादर्श, 1/12
4. सुमित्रानन्दन पन्त, पल्लव की भूमिका, पृ. 19

रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला
चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता।।[1]

महाकवि ने भक्ति रसाप्लावित हार्दिक उद्गार को अपने आराध्य श्रीसदाशिव के चरणों में समर्पित करने के लिए सुन्दर छन्दः-शरीर प्रदान किए हैं। स्तुति काव्य के चौदह सौ उनतालीस पद्यों में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग कर अन्य शास्त्रों की तरह छन्दः शास्त्र के भी गम्भीर ज्ञान का परिचय दिया है। औचित्य की प्रतिष्ठा के लिए छन्द शास्त्रियों ने जिन विशेष नियमों का निर्धारण किया है, उन नियमों की कसौटी पर पूर्णतः खरे उतरने वाले छन्द कविता के लिए वरदान हैं। अतः उस प्रकार के छन्दों के प्रयोग की सफलता ही कवि के सत्कवित्व का प्रतिफलन है।

कवि ने अपनी रचना में जिन छन्दों का प्रयोग किया है, उनमें कुछ प्रसिद्ध छन्दों का परिचय इस प्रकार है।

अनुष्टुप्

इस छन्द के प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर होते हैं, छठा अक्षर गुरु, पाँचवाँ लघु, दूसरे और चौथे पाद में ह्रस्व तथा अन्य पहले और तीसरे पाद में सातवाँ अक्षर दीर्घ होता है—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोः ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।[2]

क्षेमेन्द्र ने अनुष्टुप् का प्रयोग शम आदि के उपदेश के लिए बताया है—

काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सद्वृत्तानां विनियोगं विभागवित्।।[3]

साथ ही वे यह भी मानते हैं कि लघु छन्दों में दीर्घसमास का होना गुण है।[4] कवि ने अनुष्टुप् के लिए निर्धारित इन सभी नियमों का पूर्णतः निर्वाह किया है। कुछ स्थल देखे जा सकते हैं—

नमः समस्तसंकल्पकल्पनाकल्पशाखिने।
विकासिकलिकाकान्तकलापाय स्वयम्भुवे।।
नमः समस्तगीर्वाणकिरीटघटिताऽङ्घ्रये।
जगन्नगरनिर्माणनर्मशर्मदकर्मणे।।[5]

लघुवृत्त में निबद्ध इन पद्यों द्वारा शान्त रस की अनुभूति होती है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/3
2. वृत्तरत्नाकर, पृ. 40
3. सुवृत्ततिलक, 3/7
4. सुवृत्ततिलक, 2/3
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/5, 3

शिखरिणी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में सत्रह अक्षर होते हैं, जो क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा अन्त में क्रमशः एक लघु और गुरु से युक्त होता है, 'रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी'[1] इस वृत्त का प्रयोग आत्म निवेदन या भक्ति के लिए होता है। इसके सामान्यतया दो भेद होते हैं—सविसर्गान्त एवं अविसर्गान्त।

सविसर्गान्त शिखरिणी की प्रशंसा करते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं कि जैसे साधन द्वारा उच्च पर्वत पर चढ़ना भी सुगम हो जाता है, उसी प्रकार सविसर्गान्त पदों के प्रयोग से शिखरिणी का उत्कर्ष बढ़ता है—

शिखरिण्या समारोहत्सहजैः ओजसः स्थितिः।
सैव लुप्तविसर्गान्तैः प्रयात्यत्यन्तमुन्नतिम्।।[2]

कवि ने अपनी रचना में शिखरिणी के इन दोनों भेदों का प्रयोग किए हैं। देखिए—

वपुःखण्डे खण्डः प्रतिवसति शैलेन्द्रदुहितुः,
शिखण्डे खण्डेन्दुः स्वयमपि विभुः खण्डपरशुः।
तथापि प्रत्यग्रं शरणमुपयातं प्रति विभो-
रखण्डव्यापारो जयति करुणाया विजयते।।[3]

यहाँ पर विसर्गान्त पदों का प्रयोग वृत्त के सौन्दर्य में चारुता प्रदान कर रहा है। इसी प्रकार—

परिम्लानो मानस्तनुरपि तनुः ताम्यतितमां
मनो मोहा वर्ते भ्रमति धृतिरस्तं व्रजति च।
कथापि क्लेशानामवतरति नोच्छेदपदवीं
दवीयस्यामस्यां भवभुवि मुधा धावति मतिः।।[4]

यहाँ पर अविसर्गान्त पदों का प्रयोग होने से सौन्दर्य में अपेक्षाकृत न्यूनता है। कवि ने इस वृत्त का अनेकशः प्रयोग किये हैं।

इन्द्रवज्रा

इस छन्द के प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु होते हैं—

स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।[5]

---

1. छन्दोमञ्जरी, वृत्तरत्नाकर, 3/91
2. सुवृत्ततिलक, 3/9
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15/37
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15/21
5. छन्दोमञ्जरी, पृ. 33

उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि का पद्य प्रस्तुत है—

स्तौम्येव तत्रापि पुनः पुनस्त्वां,
नश्यत्यविद्या यदविद्ययैव।
रजः प्ररूढं मुकुरे प्रमार्ष्टुं,
रजो विना न ह्यपरोस्त्युपायः।।[1]

उपेन्द्रवज्रा

इन्द्रवज्रा छन्द के ही प्रथम अक्षर को लघु कर देने पर उपेन्द्रवज्रा हो जाता है—

उपेन्द्रवज्रा प्रथमे लघौ सा।[2]

इस वृत्त का भी कवि ने अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है।

रथोद्धता

इस छन्द के चारों चरण ग्यारह-ग्यारह अक्षरों के होते हैं, जिनमें रगण, नगण, रगण और अन्त में प्रथम लघु तथा अन्तिम गुरु अक्षर होता है—

रात्परैर्नरलगैः रथोद्धता।।[3]

इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र कहते हैं, जैसे ललित कलाओं को जानने में निपुण बाला अत्यन्त प्रगल्भ हो जाती है, उसी प्रकार अन्त में विसर्गान्त पदों से युक्त होने पर रथोद्धता छन्द की कान्ति बढ़ जाती है—

विसर्गयुक्तैः पादान्तैः विराजति रथोद्धता।
कलापरिचयैर्जाता बालेवैषा प्रगल्भताम्।।[4]

इसके भी सविसर्गान्त एवं अविसर्गान्त दो भेद हो सकते हैं। स्तुतिकार ने रथोद्धता के दोनों भेदों का प्रयोग किया है, यथा—सविसर्गान्त प्रयोग—

यस्य शस्यमहसो निरर्गलं
योगमाप्य चरणाब्जरेणुभिः।
अद्भुतां दधति नीरजस्कतां
तं जगत्पतिमुमापतिं स्तुमः।।[5]

अविसर्गान्त प्रयोग—

ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैः जीवनैरघहरैर्नवैरियम्।
स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणं रोद्धुमर्हति मनः सरस्वती।।[6]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/3
2. छन्दोमञ्जरी, पृ. 34
3. छन्दोमञ्जरी, पृ. 41, वृत्तरत्नाकर, 3/47
4. सुवृत्ततिलक, 2/13
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/13
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/1

यहाँ पर पादान्त में विसर्गाभाव है। अविसर्ग पादान्त वाली रथोद्धता सौन्दर्य नहीं बढ़ाती—

अविसर्गैस्तु पादान्तैः निष्प्रभेव रथोद्धता।।[1]

इस छन्द में कामक्रीडा, शिकार खेलना एवं पश्चात्ताप आदि का वर्णन किया जाता है।

पृथ्वी

इसके प्रत्येक चरण में सत्रह अक्षर होते हैं, जिनमें क्रमशः जगण, सगण, जगण, सगण, यगण, लघु तथा गुरु होते हैं। इसमें आठ या नौ अक्षरों पर यति होती है—

जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।।[2]

इसके चारुत्व का विश्लेषण करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं कि समास-रहित पृथक्-पृथक् पदों का प्रयोग इसके महत्त्व को बढ़ाता है तथा समस्त पदों का प्रयोग न्यूनता ला देता है—

असमासैः पदैर्भाति पृथ्वी पृथ्वी पृथक् स्थितैः।
समासग्रन्थिभिः सैव याति संकोचखर्वताम्।।[3]

विशेष आक्षेप या धिक्कार के लिए इसका प्रयोग होता है। महाकवि असमस्त पृथक् पदा एवं समस्त पदा पृथ्वी दोनों के प्रयोग किए हैं। असमस्तपदा—

अवाप्य गुरुभिर्गुणैर्जगति गौरवं ध्यायत-
स्तमीरमणशेखरं भवति गौरवन्ध्यायतः।
अतस्तमुमया समं कृतमहाविलासम्प्रति,
स्तुतौ विरचिता मया मतिरनाविला सम्प्रति।।[4]

समस्तपदा—

जगत्यकलितोल्लसन्मदभरोद्धुरान्धासुर-
प्रतिष्करणसान्त्वनप्रथितनिग्रहानुग्रहः।
जगत्त्रयभयङ्करत्रिपुरघोरदावावली-
सलील-कवलीकृति प्रलयवारिवाहो हरः।।[5]

यहाँ पर समस्त पदों के प्रयोग से असमस्तपदा पृथ्वी की अपेक्षा न्यूनता है।

---

1. सुवृत्ततिलक, 10/14
2. छन्दोमञ्जरी, पृ. 94
3. सुवृत्ततिलक, 2/27
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/28
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/7

मन्दाक्रान्ता

इसके प्रत्येक चरण में सत्रह अक्षर होते हैं जिनमें क्रमश: भगण, मगण, नगण दो तगण और अन्त में दो गुरु होते हैं—

मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्भो मनौ तौ ग युग्मम्।।[1]

इसमें चार छ: और सात अक्षरों पर यति होती है। इसके गुण दोष का विचार करते हुए कहा गया है—

मन्थराक्रान्तविस्रब्धैश्चतुर्भिः प्रथमाक्षरैः।
मध्यषट्केति चतुरैः मन्दाक्रान्ता विराजते।।[2]

विपत्ति, प्रवास एवं वर्षा ऋतु के वर्णन में इस वृत्त का प्रयोग किया जाता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसका उदाहरण अवलोकनीय है—

मत्वा सद्यः सुकृतसुहृदं दुर्लभं जीवलोकं
लब्ध्वा सर्वव्यसनशमनं मित्रमेकं विवेकम्।
धन्याः केचित्कृतकुमुदिनीकान्तलेखावतंसं-
हंसं शसन्त्यमलमधुरैर्भक्तिसिक्तैर्वचोभिः।।[3]

वंशस्थ

इसके प्रत्येक चरण में बारह अक्षर होते हैं, जिनमें क्रमश: जगण, तगण, जगण और रगण होते हैं। वृत्तरत्नाकर में कहा है—

जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।[4]

यदि दो-दो पाद परस्पर सन्धि द्वारा मिले हों एवं द्वितीय चतुर्थ पाद के अन्त में अनिवार्य रूप से विसर्ग हो तो वंशस्थ वृत्त में चारुता आ जाती है—

असमस्तपदैः पादैः सन्धिविच्छेदसुन्दरम्।
सर्वपादैर्विसगान्तैवंशस्थं यात्यनर्घताम्।।[5]

उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि का एक पद्य प्रस्तुत है—

यमेकमेव श्रयतो न जायते
स्पृहा परस्मै महतोऽपि नाकिने।
नमः समस्तापदुपेतपालन-
व्रताय तस्मै विभवे पिनाकिने।।[6]

---

1. छन्दोमञ्जरी, पृ. 96
2. सुवृत्ततिलक, 2/34
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/9
4. वृत्तरत्नाकर, 3/47
5. सुवृत्ततिलक, 2/16
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/25

शार्दूलविक्रीडितम्

इस छन्द के प्रत्येक चरण में मगण, सगण, जगण, सगण दो तगण और एक गुरु, अर्थात् उन्नीस अक्षर होते हैं। बारहवें और उन्नीसवें अक्षर पर यति होती है—

सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।[1]

इसके प्रत्येक चरण में आद्यक्षर के आकार युक्त रहने से तथा पादों के अन्त में विसर्ग का प्रयोग होने से इसकी सुन्दरता बढ़ती है। शौर्य वर्णन में इसका प्रयोग होता है—

सकाराद्यक्षरैः पादैः पर्यन्तैः सविसर्गकैः।
शार्दूलविक्रीडितं धत्ते तेजो जीवितमूर्जितम्।।[2]

श्रीजगद्धरभट्ट के स्तुतिकाव्य का एक पद्य देखा जा सकता है—

जात्यन्धः पथि संकटे प्रविचरन् हस्तावलम्बं विना,
यातश्चेदवटे निपत्य विपदं तत्रापराधोऽस्य कः।
धिग्धिङ्गां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति,
स्निग्धस्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः।।[3]

इस छन्द का एक और उदाहरण, जिसमें समास न करके दोनों चरणों को पृथक्-पृथक् रखा गया है एवं उत्तरार्द्ध में समास करके मिला दिया गया है। उदाहरण अवलोकनीय है—

राकाकान्तरुचः क्षताखिलशुचः पीयूषधारामुचः,
स्वान्तक्लान्तिहृतश्चमत्कृतिकृतः संगीतभंगीभृतः।
शम्भोरम्बुदनादविह्वलबलद्बालाङ्गनालिङ्गना-
ह्लादस्वादसुखस्पृहामिह जहत्यन्तर्मृशन्तः स्तुतीः।।[4]

वसन्ततिलकम्

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में चौदह अक्षर होते हैं, जो क्रमशः तगण, भगण, दो जगण तथा दो गुरु के रूप में प्रयुक्त होते हैं—

ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।[5]

विशेषकर इसका प्रयोग वीर और रौद्र रसों के लिए होता है। इसके प्रथम द्वितीय पाद के अन्तिम वर्णों से पूर्व वर्ण यदि आकार स्वर से युक्त हो और ओजो गुण व्यंजक वर्णों का विन्यास हो तो चारुता बढ़ जाती है—

वसन्ततिलकस्याग्रे साकारे प्रथमाक्षरे।
ओजसा जायते कान्तिः सविकासविलासिनी।।[6]

---

1. वृत्तरत्नाकर, 3/89
2. सुवृत्ततिलक, 2/35
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/135
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/10
5. वृत्तरत्नाकर, 3/89, छन्दोमञ्जरी, पृ. 72
6. सुवृत्ततिलक, 2/0

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इस छन्द का प्रयोग अधिकाधिक हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

त्वं निर्गुणः शिव तथाहमथ त्वदीयं,
शून्यं परं किमपि धाम तथा मदीयम्।
त्वश्चेद्रवि प्रविदधासि धृतिं तथाहं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम्।।[1]

यद्यपि स्तुति काव्य के लिए किसी छन्द विशेष का निर्धारण नहीं किया है, लेकिन श्रीजगद्धरभट्ट ने वसन्ततिलकम् वृत्त के सम्बन्ध में लिखा है—

भालस्थलीव तिलकेन वधू–कटाक्ष–
विक्षोभितेन तिलकेन वनावलीव।
विज्ञप्तिरेणतिलकेन विभावरीव
शोभां वसन्ततिलकेन बिभर्ति शम्भोः।।[2]

अर्थात् तिलक लगाने से ललाट जैसे शोभित होता है, कामिनी के कटाक्ष विक्षेप से तिलक वृक्ष की शोभा बढ़ती है, चन्द्रमा की चाँदनी से रात्रि शोभित होती उसी प्रकार मेरी यह स्तुति वसन्ततिलका छन्द से सुशोभित हो रही है। इससे प्रतीत होता है कि कवि की दृष्टि में वसन्ततिलका छन्द स्तुति के लिए अधिक उपयुक्त है।

हरिणीवृत्तम्

इसके एक चरण में नगण, सगण, भगण, रगण, सगण एक लघु और एक गुरु, कुल मिलाकर सत्रह अक्षर होते हैं—

न स भ र स लागः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता।।[3]

द्रुत गति से पदों के उच्चारण करने से इसकी सुन्दरता बढ़ती है—

त्वरातरलविच्छेदैर्विभाति हरिणी पदैः।
मन्थरैर्ग्रन्थिबद्धेव याति निष्पन्दसंगताम्।।[4]

स्तुतिकार ने इसका प्रयोग बहुत कम किया है। उदाहरणार्थ एक स्थल अवलोकनीय है—

इह हि गिरिषु प्रालेयाद्रिर्महःसु विभावसुः
गुरुषु जननी मन्त्रेष्वेकाक्षरं परमं पदम्।
सखिषु सुकृतं वैरिष्वंहो नदीषु नभोनदी,
प्रभुषु च परः स्वामी देवः शशाङ्कशिखामणिः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/93
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/80
3. वृत्तरत्नाकर, पृ. 30, 3/4
4. सुवृत्ततिलक, 2/24
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 18/23

मालिनी

इसमें पन्द्रह अक्षर होते हैं, उनमें दो नगण, एक मगण और पुन: दो यगण होते हैं—

ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।।[1]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसकी परिभाषा यों दी है—

विसर्गहीनपर्यन्ता मालिनी न विराजते
चमरी छिन्नपुच्छेव वल्लीव लूनपल्लवा।।[2]

अर्थात् श्लोक के पाद के अन्त में विसर्गहीन होने से मालिनीवृत्त पूंछ रहित चमरी की तरह और पत्रहीन लता की तरह शोभित नहीं होता, अत: स्पष्ट है कि मालिनी के अन्त में विसर्गान्त पदों का प्रयोग आवश्यक है।

मालिनी की एक दूसरी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं, चौथे चरण के बीच में समास होने पर मालिनी की शोभा बढ़ती है एवं पूर्वार्द्ध में ही समास कर देने पर उसमें हीनता आ जाती है।

महाकवि अपनी रचना में जहाँ भी इस छन्द का प्रयोग किए हैं वहाँ इसकी प्राय: सारी विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं—

अपि हृदय दयार्द्रः स्वर्धुनीनीरधारी,
त्वयि विहरति हस्तन्यस्तपीयूषकुम्भः।
यदि हिमकरलेखाशेखर कोऽपरस्ते,
भवदवविनिवृत्तौ शंस शीतोपचारः।।[3]

स्रग्धरा

इसके प्रत्येक चरण में इक्कीस अक्षर होते हैं। इन्हें क्रमश: मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगणों में विभक्त किया गया है। सात-सात अक्षरों पर तीन बार यति होती है—

म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्।।[4]

औचित्य की दृष्टि से स्रग्धरा छन्द के चरणों के अन्त में आकार या किसी गुरु वर्ण का प्रयोग उचित है तथा पादान्त में विसर्ग। साथ ही विराम स्थलों में सन्धि नहीं करने से इसमें चारुता आती है—

आकारगुरुयुक्तादिपर्यन्तान्तविसर्गिणी।
असंयुक्त विरामा च स्रग्धरा राजतेतराम्।।[5]

---

1. वृत्तरत्नाकर, 3/83
2. सुवृत्ततिलक, 2/22
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 18/10
4. वृत्तरत्नाकर, 4/3
5. सुवृत्ततिलक, 2/41

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग है, जिसमें स्रग्धरा की सभी विशेषताएँ हैं। स्थल अवलोकनीय है—

> लेखाः सन्तु प्रसन्ना बुधसदसि शुचेरागमस्यास्तु लब्धि-
> र्मिथ्यादृष्टिश्च माभूदनुपधिरहतो दीर्घकालोऽस्तु भोगः।
> सभ्याः सर्वेऽनुवृत्तिं विदधतु तदपि न्यायतो नास्ति मुक्तिः
> सम्यग्दर्शी प्रमाता रचयति न भवानीश्वरश्चेद्विचारम्।।[1]

इस प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि में प्रयुक्त बड़े एवं प्रसिद्ध वृत्तों का विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसके अतिरिक्त और अन्य वृत्तों का (कुल मिलाकर 30 छन्दों का प्रयोग) भी प्रयोग किया गया है जिनकी तालिका नीचे प्रस्तुत की जा रही है—

अभिनव तामरस	—	31/11-16
आर्या	—	37/1-20
उपजाति	—	12/1, 2, 4, 5, 7-11, 21/23, 30/11-14
औपछन्दसिक	—	1/31, 13/1-17 आदि
चण्डी	—	30/68-69 आदि
तोटक	—	30/40-41 आदि
द्रुतविलम्बित	—	10/1-64 आदि
नर्दटक	—	2/30 आदि
पञ्चचामर	—	30/79 आदि
प्रकृति	—	31/26-30
प्रमाणिका	—	30/31-38
प्रमिताक्षरा	—	21/18, 25/1-27
प्रहर्षिणी	—	13/42, 21/1-17
मञ्जुभाषिणी	—	12/32, 16/1-26
शशिकला	—	31/21-25

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि छन्दों के प्रयोग में महाकवि की अबाधित गति थी। भावों की शय्या को जिस छन्द में सजाने की कोशिश की है, उसमें पूर्णतः सफलता प्राप्त की है। भक्त कवि अपनी अनुभूति एवं भक्ति भावना को छन्दों का आधार लेकर

---

1. कुसुमाञ्जलि, 11/140

घनीभूत कर दिया है। प्रत्येक छन्दों में हृदय की सहज भावनाएँ लय और ताल के आधार पर थिरकन करती है। इनके स्तोत्रों में कल्पनाओं का विस्तार एवं भावों की गहराई है। जैसे गीति काव्य में अनुभूति की सघनता एवं औचित्य की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है उसी प्रकार यहाँ भी बाह्य कलेवर की सुन्दरता के साथ-साथ रस की निर्बाध प्रवहणशीलता पर ध्यान दिया जाता है। जिसका मूल है—छन्दो विधान की सफलता। कवि इसमें पूर्णत: सफल है।

भाषा विवेचन

भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। कवि की भाषा जितनी ही सशक्त एवं अर्थबोध की दृष्टि से सरल होगी, काव्य का महत्त्व उतना ही उत्कृष्ट होगा। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में प्राञ्जल शब्दों के प्रयोग किए गए हैं, जो अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से सुन्दरतम हैं।

श्रीजगद्धरभट्ट का समय काव्य के उत्थान का समय था। लोग अपनी रचना में अनुप्रास एवं यमक आदि शब्द अलङ्कारों का प्रयोग कर शब्द सौष्ठव को सुव्यवस्थित करना चाहते थे, वहीं अर्थालङ्कारों के माध्यम से अर्थ की रमणीयता-वृद्धि में भी दत्तचित्त थे।

स्तुतिकार श्रीभट्ट ने भी शब्दालङ्कारों की योजना, वैदिक शब्दों की स्थापना एवं अप्रचलित शब्दों के प्रयोग किए, परन्तु विशेषता यह रही कि ये प्रयोग इनकी रचना की रस प्रवणता में अवरोधक नहीं हुए। कवि की यह अपनी विशेषता है कि अनुप्रास, यमक और श्लेष जैसे शब्दालङ्कारों के प्रयुक्त होने पर भी इनकी रचना में किसी प्रकार का काठिन्य नहीं है।

संस्कृत वाङ्मय भाषा की दृष्टि से वैदिक और लौकिक दो भागों में विभक्त है। फिर भी लौकिक भाषा का मूल वैदिक भाषा ही है। ऋग्वेद में कहा गया है कि देवता लोग जिस वाणी को उत्पन्न किए, सभी मनुष्य उसी वाणी को बोलते हैं—

दैवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपां पशवो वदन्ति।।[1]

इसके अनुसार प्राचीन लौकिक भाषा में वैदिक भाषा के वे समस्त शब्द विद्यमान थे जो आज वैदिक माने जाते हैं। वस्तुत: जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक भी हैं और वे ही उनके अर्थ भी—'य एव लौकिकास्त एव वैदिकास्त एव च तेषामर्था:'।[2] निरुक्तकार यास्क ने इसका विवेचन शुरू में ही किया है 'अर्थवन्त: शब्दसामान्यात्'[3] किन्तु धीरे-धीरे दोनों भाषाओं में भिन्नता होती गई। यास्क कहते हैं कि लौकिक भाषा में प्रयुक्त कई क्रियाओं के मूल पाठ वैदिक भाषा में मिलते हैं, "अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा: कृतो भाष्यन्ते, दमूना:, क्षेय साधा इति। अथापि नैगमेभ्यो भाषिका: उषणम्, घृतमिति"।।[4]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेकत्र वैदिक शब्दों के प्रयोग हुए हैं, जिनमें कुछ द्रष्टव्य हैं—

---

1. ऋग्वेद, 2/100/11
2. निरुक्त, टीका, भाग-1, पृ. 12
3. निरुक्त, 1/16
4. निरुक्त, 2/1

मयस्कर यह वैदिक शब्द है। रुद्राष्टाध्यायी में इस शब्द का प्रयोग हुआ है "नमः शिवाय च मयस्कराय च नमः"।[1] मयस्कर शब्द का अर्थ है कल्याण करने वाला। श्रीजगद्धरभट्ट ने कुसुमाञ्जलि के दीनाक्रन्दन स्तोत्र में इस शब्द का प्रयोग किया है—

मयस्करमीश्वरसेवनम्।[2]

टीकाकार रत्नकण्ठ लिखते हैं 'मयः कल्याणं परमानन्दं करोतीति, मयस्करमीश्वर-सेवनम्, परमशिव-सेवनं श्रेयः। छन्दसि मयशब्दः कल्याणवाचको दृश्यते। यथा इन्द्रानुवाके 'शङ्कराय च मयस्कराय च'।[3] यहाँ पर छन्दोवत् कवयो प्रयुज्यन्ते के अनुसार वैदिक शब्द के प्रयोग से अप्रयुक्तत्व दोष नहीं माना जा सकता।

कर भौवादिक कृ धातु से मध्यम पुरुष के एक वचन में 'हिं' प्रत्यय करने पर कर क्रिया पद निष्पन्न होता है। यह वैदिक धातु है। तेभ्यो करन्नमः।[4] 'छन्दसा अपि क्वचिद्भाषायां प्रयुज्यन्ते' इस नियम के अनुसार श्रीजगद्धरभट्ट ने भी स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कर क्रिया का प्रयोग किया है।

'अतनुशं कर वैरसमयतया'[5] टीकाकार रत्नकण्ठ लिखते हैं, 'कर इति भौवादिकस्य कृञः लोटि मध्यमपुरुषैकवचने हि प्रत्ययप्रयोगश्छन्दसि।'[6]

कुछ स्थलों पर तो ऐसे शब्दों के प्रयोग बन पड़े हैं कि लगता है कि वैदिक मन्त्र ही पढ़े जा रहे हों। जैसे यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्...'।[7] आदि मन्त्र लिखा गया है। कवि ने पुण्यपरिणाम स्तोत्र में एक ऐसे पद्य की रचना की है, लगता है वैदिक मन्त्र ही पढ़ा जा रहा हो—

सहस्रशीर्षा पुरुषः पुनातु वः,
सहस्रचक्षुर्भगवान् सहस्रपात्।
गलेङ्घ्रिमूले नयने च निश्चला-
स्त्रयोप्यमी यं पुरुषा उपासते।।[8]

इसी प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि के अन्य स्थलों पर भी दूष्य, तितउः, ईडे, धनन्ति आदि वैदिक प्रयोग किए गए हैं।[9] इससे काव्य-दोष की आपत्ति नहीं, प्रत्युत् कवि की वैदिक वाङ्मय के बोध का भी ज्ञान होता है।

---

1. रुद्राष्टाध्यायी, अध्याय 5
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/46
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, टीका, पृ. 85
4. रुद्राष्टाध्यायी, अध्याय 5
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/77
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, टीका, पृ. 219
7. ऋग्वेद, मण्डल-10, पुरुषसूक्त 90, मन्त्र 1
8. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/1
9. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/1

स्तोत्र की रचना करते समय कवि ने पदे-पदे रोचक शब्दों, पदों एवं विभक्तियों का प्रयोग कर भाषा की रोचकता में चार चाँद लगा दिये हैं। कुछ स्थल उल्लेखनीय हैं।

कारक-प्रयोग

यों तो कुसुमाञ्जलि में सभी विभक्तियों के प्रयोग प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, फिर भी कहीं-कहीं प्रथमा और तृतीया विभक्तियों के प्रयोग दर्शनीय हैं। एक स्थल पर कवि शिव की स्तुति करता हुआ कहता है—

तद्विद्याभ्यसनः सभानिवसनः सौधासनाध्यासनः,
शुद्धान्नप्रसनः सुधौतवसनः सत्साध्वसध्वंसनः।
प्रह्लादोल्लसनः प्रसन्नहसनः सम्पन्नसद्वासनः,
सत्काव्यव्यसनः सुधार्द्ररसनः शम्भोः कृतोपासनः।।[1]

यहाँ पर शम्भोः इस षष्ठी विभक्ति को छोड़कर अन्य सभी पदों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग अतिशय चमत्कार कारक है। इसी प्रकार प्रथम स्तोत्र के निम्न पद्य में—

पद्मसद्मकरमर्द्दलालितं
पद्मनाभनयनाब्जपूजितम्।
पद्मबन्धुमुकुटांशुरंजितं
पादपद्मयुगमैश्वरं स्तुमः।।[2]

इस पद्य में केवल द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। तृतीया विभक्ति के प्रयोग में भी कवि ने पूर्ण चमत्कार दिखाया है—

ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलैर्जीवनैरघहरैर्नवैरियम्।
स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणं रोद्धुमर्हतिमनः सरस्वती।।[3]

इसी तरह—

कुन्दकुड्मलकदम्बकेतकीकाञ्चनारकलिकाकदम्बकैः,
कर्णिकारकरवीरकोरकैः कैरवैः कुवलयैः कुशेशयैः।।
किंशुकैः कपिकपोलकान्तिभिः केसरैः कमलकोषकोमलैः,
कोविदारकुटजैः कणेरकै केवलैः कचितकीर्णकुन्तलः।।[4]

इन पद्यों में तृतीया विभक्ति का सफल प्रयोग है। चतुर्थी विभक्ति के प्रयोग में भी कवि की सरस्वती थिरकती प्रतीत हो रही है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने।
मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः।।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/9
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/16
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/1
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 22/6, 7

नमः संहृतकालाय कालायसगलत्विषे।
गङ्गाधौतकलापाय कलापायमविन्दते।।[1]

पंचमी विभक्ति के प्रयोग भी सेवाभिनन्दनस्तोत्र[2] में देखे जा सकते हैं। वहाँ पर अनेक पद्यों में 'महीरुहादपि', 'भरसंप्लवादपि', 'पदक्रमादपि' और 'विभ्रमादपि' जैसे पदों के प्रयोग किए गए हैं, किन्तु भाषा सौष्ठव की दृष्टि से पञ्चम्यन्त पद अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर पाते। इसी प्रकार षष्ठी विभक्ति के प्रयोग आशीर्वादात्मक स्तोत्र[3] में सप्तमी का प्रयोग दीनाक्रन्दनस्तोत्र[4] में किया गया है, जिनमें कवि को पूर्ण सफल कहा जा सकता है। सम्बोधन प्रयोग की दृष्टि से भी कवि सराहनीय हैं—

इदमनङ्गजनङ्गमसङ्गम, भ्रमदमन्दमलं चपलं मनः।
अमृतकुम्भकर! द्युतरङ्गिणीधर! सुधाकर शेखर! शोधय।।[5]

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी अनेक सम्बोधनों के प्रयोग किए गए हैं।[6]

समास प्रयोग

समस्त पदों के प्रयोग से भाषा में ओज गुण का आविर्भाव होता है। कवि कहीं-कहीं लघु समस्त पदों का और कहीं दीर्घ समस्त पदों का प्रयोग कर भाषा को अत्यन्त सुसज्जित किया है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल अवलोकनीय हैं—

मातः सरस्वती बधान धृतिं त्वदीयां,
विज्ञप्तिमार्तिविधुरां विभवे निवेद्य।
देवी शिवा शशिकला गगनापगा च
कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम्।।[7]

यहाँ पर लघु समस्त पदों के प्रयोग हैं। इसी प्रकार निम्न पद्य में—

हंसाय दीर्घदोषान्तकारिणेऽम्बरचारिणे।
स्वमहोमहिमध्वस्तसमस्ततमसे नमः।।[8]

यहाँ पर दीर्घ सम्मत पदों के प्रयोग हैं, अतिदीर्घ समस्त पदों के प्रयोग के लिए निम्न पद्य अवलोकनीय है—

अदूरबहिरङ्गनोपवनजातचूतावली-
विलीनकलकोकिलाकलितकाकलीकूजितैः।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/16, 17
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/20, 21
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/78
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/57
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 18/9, 11/106, 15/24, 30/8 आदि।
7. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/4
8. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/13

वलन् मलयमारुतप्रचलदुल्लसन्मालिका-
विभासिकुसुमस्खद्भसलमण्डलगुञ्जितैः।।[1]

इसी प्रकार समस्त पदों की छटा अन्य स्थलों पर भी देखी जा सकती है।[2]

क्रिया प्रयोग

संस्कृत में क्रियाएँ परस्मैपदी, आत्मनेपदी, सोपसर्ग, अनुपसर्ग, सन्नन्त, णिजन्त आदि अनेक प्रकार की होती हैं। कवि ने सभी प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग कर अपने व्याकरण शास्त्र के प्रक्रियांश ज्ञान का परिचय दिया है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के स्तुति फल प्राप्ति नामक छत्तीसवें स्तोत्र के एक ही पद्य में अनेक प्रकार की वर्तमान कालिक क्रियाओं का प्रयोग अवलोकनीय है—

ते नाथ जन्म सकलं न कलङ्कयन्ति,
न द्रोहकर्मरसिकानपि शंकयन्ति।
तान् सस्पृहं मृगदृशः प्रविलोकयन्ति
ये त्वत्पदाब्जरजसालिकमङ्कयन्ति।।[3]

इस स्तोत्र के सम्पूर्ण पद्यों में इसी प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग है। आत्मनेपदी क्रियाओं के प्रयोग में भी कवि पूर्णतः सिद्ध है। एक स्थल पर एक ही पद्य में अनेक आत्मनेपदी क्रियाओं का प्रयोग द्रष्टव्य है—

वन्दामहे च विविधं विविदामहे च,
लज्जामहे च कलुषाणि भजामहे च।
ईहामहे च कुवचांसि सहामहे च,
दह्यामहे च दुरितैर्जठरस्य हेतोः।।[4]

इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी देखा जा सकता है। करुणक्रन्दन स्तोत्र के एक पद्य में केवल सन्नन्त प्रयोग कवि की शब्द सम्पत्ति प्रस्तुत करता है—

यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः,
परिजिहीर्षसि यद्यघबन्धनम्।
यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं
श्रय मयस्करमीश्वरसेवनम्।।[5]

यहाँ पर चिकीर्षति, परिजिहीर्षति, तितीर्षति आदि प्रयोग भाषा में लालित्य पैदा कर देते हैं। आशीर्वाद नामक स्तोत्र के एक पद्य में भिन्द्धि, क्षुन्द्धि, पिण्ड्ढि आदि क्रियाओं का

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/87
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/88, 91
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 36/1
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/51
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/46

प्रयोग है।[1] कृपणाक्रन्दन स्तोत्र के एक पद्य में कवि मन् धातु के मध्यम पुरुष की जगह पर उत्तम पुरुष एकवचन की क्रिया का प्रयोग किया है—

नाथीकृतेन्दुमुकुटानपि नाम मन्ये,
निर्भर्त्सीयिष्यसि हतैव तवेयमाशा।।[2]

इसमें मन्ये और निर्भर्त्सीयिष्यति दोनों क्रियाएँ अत्यन्त उपहास में प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च[3] इस सूत्र से हुआ है। दीनाक्रन्दनस्तोत्र के एक पद्य में विभक्ति का विपरिणमन करके अर्थ को सुस्थिर किया गया है।[4]

सोपसर्गिक क्रियाओं के प्रयोग में भी कवि ने सराहनीय प्रयास किया है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल प्रस्तुत हैं—

सन्तः सदस्सुवदनान्यधिवासयन्ति।
तत्कारुण्यनिधे निधेहि, हृदये त्वं ह्यन्तरात्माऽखिलम्।
तान्सस्पृहं मृगदशः प्रविलोकयन्ति।।[5]

उपर्युक्त इन पादों में अधि, नि, प्र, वि आदि उपसर्गों का प्रयोग है। इसी प्रकार प्रविमूलयन्ति, समुद्बभूव, समाप्नुयुः, समधिगम्य, अभ्युदेति आदि क्रियाओं में उपसर्गों के सुन्दर प्रयोग दर्शनीय हैं।[6]

कुसुमाञ्जलि में कवि ने पदे-पदे निपात और अव्ययों का भी प्रशंसनीय प्रयोग किया है। एक स्थल पर च निपात की झड़ी सी लग गई है—

कात्यायनी च करुणा च कला च चान्द्री,
स्निग्धा च दृक्च सुरसरिच्च सरस्वती च।।[7]

इसी प्रकार अव्ययों के प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। कवि ने विनोक्ति अलङ्कार में विना अव्यय पद का सुन्दर प्रयोग किया है, जो इस प्रकार है—

यथा हि शीलेन विना कुलाङ्गना,
यथा विवेकेन विना मनीषिता।
सदर्थबोधेन विना यथा श्रुतिः,
महीभुजङ्गेन विना यथा मही।।[8]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/54
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/46
3. पाणिनीय अष्टाध्यायी, 8/4/2/1
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/59
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/6, 11/143, 36/1
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 36/23, 10/21, 20/38, 10/23, 11/8
7. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/28
8. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/12, 13, 14

इसी प्रकार 13, 14 पद्यों में भी विना अव्यय का अधिकाधिक प्रयोग है। इसके अतिरिक्त अन्य पदों में भी गुमगुम, गलगल, गद्गद, मुहुर्मुहुः, अहहा, हन्त, आः, हाः आदि अन्वयों का सफल प्रयोग है।[1]

कुसुमाञ्जलि के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन से लगता है कि कहीं–कहीं कवि ने ऐसे प्रयोग किए हैं जो काव्य पाठ, अर्थ बोध और तदनुसार रसास्वाद में अवरोध पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्थल अवलोकनीय हैं।

प्रथम स्तोत्र के प्रथम पद्य में कवि ने ह्लादवद्भिः[2] पद का प्रयोग किया है, जिसके सुनते ही कर्णकटुता की अनुभूति होती है। अतः यहाँ पदांशगत श्रुतिकटु दोष माना जा सकता है। प्रथम स्तोत्र के तेरहवें पद्य में कवि को नीरजस्कतां पद के साथ विरोधाभास की छवि लाने के लिए चरणाब्जरेणुभिः[3] न कहकर चरणाब्जरजोभिः कहना चाहिए था, किन्तु यतिभङ्ग के भय से इन्होंने रेणुभिः पद का प्रयोग किया, जो प्रक्रमभंग दोष को उद्भावित कर रहा है।

स्तुतिप्रशंसा नामक स्तोत्र के 'जय जय हर रक्ष महादेव...'।[4] पद्य में जय शब्द की पुनरुक्ति होने से दोष माना जा सकता है। ऊपर वैदिक पद प्रयोग क्रम में विवेचित मयस्कर आदि शब्दों के प्रयोग में अप्रयुक्तत्व दोष की स्थिति मानी जा सकती है। इसी तरह 'सहस्रचरणं रविं नयनपङ्कजान्तः स्थितम्'।[5] आदि पद्य में अर्थावगम के लिए खींचातानी करनी पड़ती है, अतः इस स्थल को भी नेयार्थ दोष ग्रसित कहा जा सकता है। प्रक्रमभंग दोष की दृष्टि से कुसुमाञ्जलि का एक स्थल दर्शनीय है—

> निधाय चक्षुर्दहतो मनोभवं,
> न कामहानिं प्रवितन्वतो दृशा।
> अनष्टमूर्तेर्दधतोऽष्टमूर्तितां
> जयन्ति शम्भोर्विविधा विभूतयः॥[6]

जहाँ पर विषयवस्तु को जिस क्रम से शुरू किया जाता है, उसी क्रम से उसका समापन नहीं होता तो प्रक्रमभंग दोष माना जाता है। प्रस्तुत पद्य में कामदहन के लिए पहले चक्षु शब्द का प्रयोग है और अन्त में दृशा शब्द का प्रयोग करने से यहाँ प्रक्रम भङ्ग दोष है।

इसी प्रकार कुछ अप्रसिद्ध धातुओं जैसे—धन्, वन्, मह्, उष्, आदि का प्रयोग अप्रसिद्धत्व दोष को प्रकट करता है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/31, 18/12, 14/14, 11/105, 9/29, 10/10, 11/102, 9/41 आदि।
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/1
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/13
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 37/3
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 20/41
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 29/19

किन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि दोष का स्वरूप क्या है और किस प्रकार के शब्दों का कहाँ प्रयोग करने पर दोषों की स्थिति होती है, यह विचार आवश्यक है।

आचार्य मम्मट का कहना है कि जिन शब्दों के प्रयोग से रस रूप मुख्यार्थ की हानि हो वहाँ उन शब्दों को दुष्ट कहा जाता है—

मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्चमुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः।[1]

यह दोष पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, वाक्यार्थगत और रसगत होने से पाँच प्रकार का होता है।

अब कुसुमाञ्जलि के उद्भावित दोषों को मम्मट के लक्षण से लक्षित दोष रूपी निकषोपल पर रख कर परीक्षण करने से ज्ञात होता है कि इनमें दोषों की बांत अलग रही, दोषांश भी नहीं है, क्योंकि यह भक्ति ग्रन्थ है। भक्ति की भावना में लीन कवि पद्य प्रसूनों को अपने आराध्य के श्रीचरणों में समर्पित करता हुआ जिस अलौकिक भक्ति रस का पान कर रहा है, वह सहृदय जन संवेद्य है। कुसुमाञ्जलि के पाठ करते समय कहीं भी वैसे शब्दों के प्रयोग नहीं मिलते, जो रसास्वादन में अवरोध पैदा करते हों। अतः दृढ़ता के साथ कहा जा सकता है कि यहाँ दोषों का लेशमात्र भी स्थान नहीं हैं।

दोषरहित शब्दार्थ की काव्यता होने से निर्दोषता भी काव्य तत्त्वों का एक अवयव है। अतः इसे भी काव्यात्मक समीक्षा के अध्याय में रखना उचित था। किन्तु मैंने इसे भाषा विवेचन में इसलिए रखा कि मेरी दृष्टि से कुसुमाञ्जलि में दाषाभाव होते हुए भी इसका उद्भावन कर पूर्णरूपेण निराकरण करना आवश्यक था।

---

1. काव्यप्रकाश, 7/।

चतुर्थ अञ्जलि : काव्य–पक्ष

रस–विवेचन

रससम्प्रदाय सबसे प्राचीन एवं मुख्य है। इस विषय में सबसे पहला विवेचन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में पाया जाता है। इनका रस सूत्र है—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः[1]

यह प्रसिद्ध रससूत्र ही रससिद्धान्त का प्राणभूत है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर रस का विवेचन किया है। वस्तुतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से स्थायीभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस शब्द से बोध्य होता है। इसीलिए 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः'[2] कहा गया है। आस्वाद ही रस है। इसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है—'रसो वै सः रस ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'।[3]

(1) स्थायीभाव

स्थायीभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है। यह सधर्मी तथा विधर्मी किसी भाव के द्वारा भावान्तरित नहीं होता। समुद्र की तरह स्थिर रहता है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यन् स स्थायी लवणाकरः।।[4]

(2) विभाव

रसानुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं—

बहवोऽर्थाः विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः।।[5]

विभाव दो प्रकार के होते हैं—एक आलम्बन विभाव और दूसरा उद्दीपन विभाव। जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है उसको आलम्बन और जिसके द्वारा रति या रस में उत्कर्ष होता है उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान आदि द्वारा रति स्थायी भाव का उद्दीपन होने से उद्दीपन विभाव है।

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/21
2. काव्यप्रकाश, 4/31
3. रसगङ्गाधर, पृ. 20
4. दशरूपक, 4/20
5. नाट्यशास्त्र, 7/4

(3) अनुभाव

अनुभाव उस आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। 'अनु पश्चाद्भवन्तीति अनुभावाः' यह कार्य है। आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।।[1]

अतः स्पष्ट है कि अलग-अलग रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य-व्यापार अनुभाव हैं और वे प्रत्येक रस में अलग-अलग होते हैं।

(4) व्यभिचारिभाव

उद्बुद्ध स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं 'विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः'। धनञ्जय ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्ना कल्लोला इव वारिधौ।।[2]

अर्थात् जो रसों में नानारूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। इनकी संख्या तैंतीस मानी गई है।[3]

अतः स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों ने निष्पत्ति शब्द को चार प्रकार से व्याख्यायित किया है। भट्ट लोल्लट के मत में निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति, शङ्कुक के मत अनुमिति, भट्टनायक के मत में भुक्ति और अभिनवगुप्त के मत में 'निष्पत्ति' शब्द से अभिव्यक्ति का ग्रहण होता है।[4] किन्तु विस्तार के भय से उनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा रहा है।

वस्तुतः रस अवस्था तक पहुँचने के लिए रसनीय भावों की योग्यता अपेक्षित है। कोई भी भावना उचित आधार के रहने पर ही रस अवस्था को प्राप्त करती है। अतः मनोवेग में योग्यता एवं औचित्य का सद्भव होना जरूरी है। भावना के उचित अधिकरण के साथ-साथ उसमें तीव्रता एवं विशदता भी होनी चाहिए, जिससे पाठक में वेद्यान्तर सम्पर्क शून्यता की स्थिति आ जाए। भावों की तीव्रता और विशदता जैसे रागद्वेष आदि सक्रिय भावों को उत्तेजित करती है, उसी प्रकार शान्त और करुण आदि रसों की भी स्थायित्व प्रदान करती है। इसी प्रकार रस को आस्वाद्य बनाने के लिए मनोवेग की स्थिरता एवं चिरकालिकता, भावना की व्यापकता एवं विविधता तथा उदातत्ता पर विशेष बल होना चाहिए। भावना की उदात्तता कथा-पक्ष की अपेक्षा मनोवग को अधिक तरंगायित करती है।

---

1. नाट्यशास्त्र, 7/5
2. दशरूपक, 4/22
3. नाट्यशास्त्र, 6/18-21
4. काव्यप्रकाश, पृ. 100-112

रसों की संख्या

साहित्य–शास्त्र में रसों की संख्या के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। अनेक आचार्यों ने अपनी–अपनी मान्यताओं के आधार पर रसों की संख्या बतलायी है। मेरी समझ में तो पूर्ण घनानन्द रूप रस एक ही है और उसकी कोई संज्ञा नहीं है, क्योंकि अखण्ड–ब्रह्म विषय संवलित होने पर जैसे अनेक रूपों में भासित होता, उसी प्रकार अखण्ड रस देश, काल और परिस्थिति के अनुसार अनेक रूपों में प्रतीत होता, वस्तुतः वह एक ही है। अस्तु, काव्यशास्त्र में भरतमुनि आठ रसों को मानते हैं—

> **शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।**
> **बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।**[1]

यद्यपि इन्होंने शान्त–रस के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है, किन्तु नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार अभिनवगुप्त, ये शान्त रस को भी मानते हैं—ऐसा कहे हैं।[2] सम्भवतः आचार्य मम्मट ने भरतमुनि के आधार पर ही रसों की नौ संख्या मानी है। इन्होंने शान्तरस को स्पष्टरूपेण स्वीकार किया है—**निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।।**[3]

इनके अतिरिक्त विश्वनाथ ने वात्सल्य को भी अलग रस माना है—**स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।।**[4]

इस प्रकार रसों की संख्या दस हो जाती है।

भक्तिरस

उपर्युक्त दस रसों के अतिरिक्त एक भक्तिरस भी है, जिसे आलङ्कारिकों ने रस की श्रेणी में न रख कर भाव की उपाधि दी है। इनका कहना है कि देवता विषयक रति को रस नहीं, भाव कहेंगे—**भावः प्रोक्तः रतिर्देवादिविषया।**[5]

आचार्य दण्डी ने भक्ति को प्रियतर अनुभूति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे प्रेय अलङ्कार का अभिधान दिया है **'प्रेयः प्रियतराख्यानम्'**[6] आचार्य रुद्रट प्रेय को अतिरिक्त रस की स्वीकृति देने के पक्षपाती प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु उतनी दृढ़ता नहीं है—

> **स्नेहः प्रकृतिप्रेयान् संगीतशीलार्यनायको भवति।**
> **स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपचारसम्बन्धात्।।**
> **निर्व्याजमनोवृत्ति स नर्मसद्भावपेशलालापाः।**
> **अन्योऽन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारो यं मतो यत्र।।**[7]

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/15
2. अभिनवभारती, 6/16
3. काव्यप्रकाश, 4/47
4. साहित्यदर्पण, 3/251/7
5. काव्यप्रकाश, 3/35
6. काव्यादर्श, 2/273
7. काव्यालङ्कार, 17/9

अभिनवगुप्त ने भक्ति को शान्तरस के सहचारीभाव के रूप में लिया है 'अत एवेश्वरप्रणिधानविषये न भक्तिश्रद्धे स्मृति मति धृत्युत्साहाद्येऽनुप्रविष्टेऽन्यर्थवाङ्गिति न तयोः पृथग्रसरत्वेन ग्रहणम्'।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर को पढ़ने से लगता है कि ये भी भक्ति को रस मानते हैं। क्योंकि इसके समर्थन में जितनी बातें आवश्यक थीं, सब कह डाली हैं फिर भी परम्परा के मोह में स्पष्ट रूप से सिद्धान्तित नहीं किए हैं—

> कथमेत एव रसाः, भगवदालम्बनस्य रोमांचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य, हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तेरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नुतत्वात्, भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुर्महति। अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गतया रसतत्त्वानुपपत्तेः।।[2]

किन्तु वैष्णव आचार्यों ने इसे रस ही नहीं सर्वश्रेष्ठ रस माना है। रूपगोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थों में तथा जीवगोस्वामी आदि ने भी भक्तिरस का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया है। इन्होंने देवता विषयक रति को भक्तिरस का स्थायिभाव माना है—

> स्वाद्यत्वं हरिभक्तानामानीताश्रवणादिभिः।
> एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्।।[3]

यहाँ पर चित्त में स्थित भगवद्विषयिणी रति के आस्वाद्य के कारण को विभाव, स्थायिभावबोधक विकार को अनुभाव एवं आङ्गिक, वाचिक आदि तैंतीस भावों को संचारिभाव कहा गया है—तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः।।[4]

वस्तुतः सहृदय भक्त के विशुद्ध चित्त में श्रवण कीर्तनादि की सहायता से शुद्धसत्त्वविशेषरूपिणी देवता विषयिणी रति का उद्भव होता है, जिसमें रति के संविदात्मक-प्रकाशक स्वरूप के कारण देवादि विभावादि का प्रकाशन होता है। अनुभूत ये विभावादि प्रमाता की रति को घनीभूत कर देते हैं और वह भगवद्-विषया रति अतीव चर्वणा योग्य हो जाती है, जो शुद्धसत्त्वविशेषा होने के कारण स्वयं आनन्द रूप है। मेरी दृष्टि में भक्तिरस को रसराज की श्रेणी भले ही न दी जाए, किन्तु इतना तो अवश्य है कि अन्य शृंगारादि रसों की भाँति इसका भी अपना शुद्ध अस्तित्व है। इस सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जा सकता है कि विश्वनाथ ने रति के एक भेद पुत्रादिगत स्नेह को स्पष्ट रूप से चमत्कारी होने के कारण अलग एक वात्सल्य रस स्वीकार किया, किन्तु देवताविषयक रति के स्पष्टतः चमत्कारी होने पर भी भक्ति को रस नहीं कहा। इसी प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी भक्ति रस के उपयुक्त

---

1. अभिनवभारती, पृ. 34
2. रसगङ्गाधर, पृ. 45
3. भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ. 115
4. भक्तिरसामृतसिन्धु, पृ. 115, 199, 222-223

सभी सामग्रियों को उद्भावित करके भी उसे भाव की ही कोटि में रखा—इसे आचार्यों की सम्प्रदाय ग्रस्तता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर शृंङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, शान्त, वात्सल्य और भक्ति—ये ग्यारह रस स्वीकार किए गए। इन्हीं रसों के आधार पर स्तुतिकुसुमाञ्जलि का रस सम्बन्धी विविचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(1) शृङ्गाररस

काम के अङ्कुरित होने का नाम शृङ्ग है और उसकी उत्पत्ति का कारण शृङ्गाररस—

> शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
> उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते।।[1]

श्री भरतमुनि इसकी परिभाषा करते हैं—

> ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः।
> उपवनगमनविहारैः शङ्गाररसः समुद्भवति।।[2]

इसके दो भेद हैं—संयोग एवं वियोग। संयोग शृङ्गार परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, चुम्बन आदि अनेक प्रकार के होते हैं। अतः इन्हें भेद बाहुल्यात् एक ही माना गया है—तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाधरपानपरिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद एक एव।।[3] विप्रलम्भ शृङ्गार अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शापमूलक होने से पाँच प्रकार का माना जाता है—अपरस्त्वभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।।[4]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर सम्भोग शृङ्गार के स्थल हैं पर इसका पर्यवसान कविनिष्ठ रति में होने से रस नहीं भाव कहा जायेगा। उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है—

कवि शिव और पार्वती के मिलन का वर्णन करता हुआ कहता है—शिव के गले में लिपटी पार्वती की भुजलताएं ऐसी लग रही हैं, मानो सजल नील मेघखण्ड पर सौदामिनी दमक रही हो—

> शाणोल्लीढनवेन्द्रनीलमहसि श्रीकण्ठकण्ठस्थले,
> संसक्ता कनकच्छविर्गिरिसुतादोः कन्दली पातु वः।
> यामालोक्य सनीरनीरददलश्लिष्यत्तडिद्विभ्रम-
> भ्रान्त्या नोज्झति चण्डताण्डवनवोल्लेखं शिखी षण्मुखः।।[5]

इस पद्य में शिव एवं पार्वती का आलिङ्गन सम्भोगशृङ्गार का निदर्शन है। किन्तु 'भावः प्रोक्तः रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः' सिद्धान्त के अनुसार यहाँ शिव–पार्वती

---

1. अज्ञात
2. नाट्यशास्त्र, 6/48
3. काव्यप्रकाश, 4/19, पृ. 121
4. काव्यप्रकाश, 4/19, पृ. 123
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/59

विषयक कविनिष्ठ रति होने से शृङ्गार नहीं, भाव माना जाएगा। इसी प्रकार सर्वत्र भक्ति काव्यों में समझना चाहिए।

विप्रलम्भशृङ्गार

नायक और नायिका के अन्दर प्रगाढ़ प्रेम रहने पर भी किसी कारणवश मिलन का न हो पाना विप्रलम्भ या वियोग शृङ्गार है। पण्डितराज ने तो यहाँ कहा है कि एक शनयगत भी नायक और नायिका में वैचारिक भेद होने पर विप्रलम्भ है। किन्तु उसका पर्यवसान कविनिष्ठ रति में होने से भाव होगा, रस नहीं। उदाहरण के लिए कुसुमाञ्जलि के स्थल अवलोकनीय हैं।[1]

अभिलाषहेतुक विप्रलम्भ

वियोग से व्याकुल होने के कारण कपोल पर हाथ रखी हुई नारी का शरीर म्लान हो गया है। वह शिव कृपापात्र भक्त से मिलने की अभिलाषा से उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रही है—

करकलितकपोला बालशैवालशय्या-
तलत्तुलितमृडालीपेलवम्लानमूर्तिः।
चिरविरहविनिन्द्रा रुद्धदृक्पातपात्रं
दिशि-दिशि निशि पश्यत्यंगनानंगभीरुः।।[2]

यहाँ पर शिवभक्त को प्राप्त करने की अभिलाषा में किसी नायिका के हृदय की रति सामाजिक को विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रतीति करा रही है।

विरहहेतुक विप्रलम्भ

पार्वती शिव के लिए विरह में व्याकुल होकर अपने रात्रिगत स्वप्न को अपनी सहेली से कह रही है कि हे सखि! सम्पूर्ण रात्रि प्रियतम शिव का स्मरण करते-करते व्यथित हो गई हूँ—

ध्यायन्त्यनन्य-हृदया हृदयाधिनाथ-
मद्य क्षपामगमयं सखि! कल्पकल्पाम्।
प्राणेश संगमनिमित्तमथ प्रभाते,
निद्रा सखीव मम सम्मुखमाजगाम।।[3]

यहाँ विरहिणी पार्वती का रतिभाव विप्रलम्भ शृङ्गार के रूप में प्रस्तुत है। इसी प्रकार ईर्ष्या, प्रवास एवं शापहेतुक विप्रलम्भ शृङ्गार भी देखे जा सकते हैं।

हास्यरस

इसका स्थायिभाव हास है। अस्त-व्यस्त वेशभूषा, विकृत आकृति, उल्टी-सीधी बातें एवं इसी प्रकार की चेष्टाएँ करना आदि हास्य रस के विभाव आदि हैं। इनके द्वारा सहृदय के चित्त में विद्यमान स्थायी भाव हास 'हास्यरस' होता है—

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि 6/3, 33/19, 20, 18/17, 10/2, 15/78, 86-91 आदि।
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 18/5
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 20/16

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेशैश्च।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसस्मृतो हास्यः।।[1]

इसमें विकृत आकार, वाणी और चेष्टा वाले मनुष्य का हास्य आलम्बन एवं उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं, मुसकुराहट आँखों का संकुचित होना आदि अनुभाव हैं एवं असूया चपलता हर्ष आदि संचारीभाव।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि एक भक्तिभावित स्तोत्र ग्रन्थ है। यहाँ आराध्य के प्रति भक्त का समर्पण-भाव है। अतः हास्य रस की स्थिति का कोई क्रम ही नहीं आता, फिर भी अपने ग्रन्थ में कवि ने एक स्वतन्त्र हसितस्तोत्र की रचना की है।

कवि एक पौराणिक उपाख्यान का आधार लेकर वर्णन करता है कि हे प्रभो! आपके दिगम्बर रूप की अलौकिक सौन्दर्य सुधा का पान कर जो मुनि पत्नियाँ आप पर आसक्त हो गईं और क्रुद्ध मुनियों ने जो आपके ऊपर लगुड प्रकार किया, इससे आपके मन में जो हास्य उत्पन्न हुआ, उसकी हम स्तुति करते हैं—

दृष्ट्वा वधूजनमनूत्तमरूपसंपत्
सन्दर्शनोद्भव-मनोभवभग्नवृत्तम्।
आषाढपाणिषु रुषा मुनिषु प्रहर्तु-
मभ्युद्यतेषु तव यद् भृशमुद्बभूव।।[2]

यहाँ पर भी हास्य रस की प्रतीति हो रही है। स्पष्ट तो यह है कि इसके स्तुति काव्य होने से इस रस का पूर्ण विकास नहीं है। उद्धृत पद्य में भी हास्यरस भक्ति रस का पोषक होने से प्रधान नहीं है।

(3) करुणरस

इष्ट वस्तु के नष्ट होने एवं अनिष्ट वस्तु के आ जाने से करुणरस की उत्पत्ति होती है। इसमें नष्ट वस्तु या व्यक्ति आलम्बन, उसका दाहादि कार्य एवं उसके सुन्दर व्यक्तित्व का स्मरण उद्दीपन विभाव है। इसी प्रकार ईश्वर को फटकारना, रोना, मूर्च्छित होना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, मोह, अपस्मार आदि व्यभिचारिभाव। इनके द्वारा स्थायिभाव शोक करुण रस होता है—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्यात् शोच्यमालम्बनं मतम्।।
तस्य दाहादिकार्याणि भवेदुद्दीपनं पुनः।।[3]

भवभूति इसे सभी रसों का मूल मानते हैं—

---

1. नाट्यशास्त्र, 6/49
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 20/9
3. साहित्यदर्पण, 3/222-225

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
उद्बुद्धचञ्चलतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्।।[1]

इसी प्रकार करुणाक्रन्दन स्तोत्र में कवि कहता है—हे दुःखापहारिन् विषयरूपी नागपाश में बंधे संसाररूपी महासमुद्र में निमग्न और उस पर भी मोहरूपी शिला से प्रताड़ित मुझ अनाथ पर कृपा कीजिए—

विषयपन्नगपाशवशीकृतं,
भवमहार्णवमग्नमनीश्वरम्।
बहलमोहमहोपलपीडितं,
हर समुद्धर मां शरणागतम्।।
प्रणततापविपत्क्षपणक्षमां,
दलितसन्तत-सन्तमसंस्थितिम्।
हृदि निधेहि दयाममृतस्नुतं
हरिणकेतुकलामिव मूर्द्धनि।।[2]

यहाँ पर सांसारिक दुःख एवं पराभव आदि आलम्बन विभाव, भगवान् के प्रति श्रद्धा भक्ति एवं उनके गुणों का स्मरण तथा दुर्जनों का तिरस्कार आदि उद्दीपन विभाव है। उच्छ्वास, प्रलाप एवं पूर्वकृत कर्मों की निन्दा आदि अनुभाव हैं। व्याधि, ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, चिन्ता एवं विषाद आदि संचारीभाव हैं। इनके द्वारा सामाजिकनिष्ठ स्थायिभाव शोक परिपुष्ट होकर करुण रस की चर्वणा करा रहा है।

दीनाक्रन्दन स्तोत्र के एक पद्य में भक्त कवि श्रीप्रभु को उपालम्भ देता हुआ जो कारुणिक चीत्कार किया है, वह दर्शनीय है—

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां,
हेलावलेप-समयः किमयं महेश।
मा नामभूत्करुणया हृदस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते।।[3]

यहाँ पर यमराज द्वारा दिये गये त्रास से घबराहट का होना आलम्बन विभाव, सांसारिक मोह आदि उद्दीपन विभाव, विस्मयादि बोधक शब्दों का प्रयोग, चिल्लाना एवं घबराना आदि अनुभाव तथा व्याधि, ग्लानि, मोह, चिन्ता आदि संचारीभाव हैं, जिनके द्वारा परिपुष्ट सामाजिकनष्ठ शोक करुणरस का आस्वादन करा रहा है।

---

1. उत्तररामचरितम्, 3/47
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/59, 63.
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/102

इसी प्रकार अन्य भी उदाहरण लिए जा सकते हैं। उक्तिवैचित्र्य द्वारा कवि ने करुण रस को—करुण, अतिकरुण, महाकरुण आदि रूप में चित्रित किया है। करुण रस में कोमलता और दीनता की गङ्गा-यमुना के बीच आत्मसमर्पण की सरस्वती होती है। इस काव्य का करुण रस आराध्य से आराधक का शरणाश्रयण की याचना प्रयुक्त है।

भक्त कवि की विकलता का चित्रण ही करुण का सर्वस्व है। कवि की नितान्त शुद्ध चेतना दर्पण की भाँति अपने आराध्य का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहती है।

रौद्ररस

इसका स्थायिभाव क्रोध है। शत्रु आलम्बन एवं उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव होती हैं। भुजाओं का फड़फड़ाना, होंठ का फड़कना एवं शत्रु को धिग्वाचक शब्दों से सम्बोधित करना अनुभाव है। ग्लानि, असूया, ईर्ष्या, आवेग, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारिभाव हैं, जिनसे परिपोषित स्थायिभाव क्रोध रौद्ररस की प्रतीति कराता है।[1]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर रौद्र रस की छटा है। भक्त काल के कुकृत्यों को देखकर कहता है—अरे उद्दण्ड काल! तुम बहुत ही दुष्ट हो। मृत्युञ्जय के द्वारा अपनी उद्दण्डता का फल अनेक बार भोगने के बाद भी तुम अपनी आदत नहीं छोड़ते—

रे दुर्विनीत! खल! काल! पुरा पुरारे-
र्यामाप्तवानसि निजां विनय-प्रशस्तिम्।
श्रुत्वैव तां धृतिमतामपि कम्पमेति
चेतः कथं पुनरपि क्रमसे तदेव।।[2]

यहाँ पर यमराज आलम्बन एवं उसकी धृष्टता आदि उद्दीपन विभाव है। भक्त द्वारा इसे धमकाना, तर्जित करना आदि अनुभाव है तथा असूया, आवेग, गर्व आदि संचारिभाव, जिनके द्वारा भक्तनिष्ठ स्थायिभाव क्रोध, रौद्ररस के रूप में आस्वाद्य है।

इसी प्रकार कवि कामदेव को धिक्कारता हुआ कहता है अरे दुष्ट काम! तुम बहुत अहंकारी है। तुम्हारी सारी शक्ति नष्ट है, फिर भी तुम अपनी आदत नहीं छोड़ते। क्या तुम भूल गये हो कि भगवान् शिव ने तुम्हें एक बार भस्म करके पुनः जीवनदान दिया था, फिर भी तुम उन्हीं के भक्त पर अत्याचार कर रहे हो—

कन्दर्प! कं दर्पमुपैसि यात-
मस्तं समस्तं सहसा बलं ते।
भीरो गभीरो गलितः किमुच्चै-
रक्षोभरक्षो भगवत्प्रसादः।।[3]

---

1. साहित्यदर्पण, 3/227, 228, 229, 230
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/65
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/50

यहाँ पर कन्दर्प आलम्बन एवं उसकी नीचता, धृष्टता एवं कुकृत्य आदि उद्दीपनविभाव हैं। पूर्व बातों का स्मरण दिलाना एवं उसे धिक्कारना आदि अनुभाव, ईर्ष्या, द्वेष आदि संचारिभाव हैं जो भक्तनिष्ठ स्थायिभाव क्रोध को उद्दीप्त कर रौद्र रस की चर्वणा करा रहे हैं।

वीर रस

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है। शत्रु का अवलोकन आलम्बन एवं रणभूमि दर्शन, शत्रु के अत्याचार का स्मरण आदि उद्दीपन विभाव हैं। उसके वध के लिए शस्त्र धारण करना, भुजाओं का फड़फड़ाना आदि अनुभाव एवं आवेग, गर्व, औत्सुक्य एवं अवमर्श आदि संचारिभाव हैं, जिनसे उत्साह स्थायिभाव परिपुष्ट होकर वीर रस की प्रतीति कराता है——

> उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
> महेन्द्र–दैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः।।
> स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा।।[1]

दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर एवं दयावीर——इसके चार भेद हैं। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में वीर रस के इन चारों भेदों के उदाहरण मिलते हैं।

दानवीर

अपने भक्त या अभीष्ट व्यक्ति के ऊपर प्रसन्न होकर अलभ्य वस्तुओं को भी समर्पित कर देना ही दानवीरता है। भगवान् शिव आशुतोष हैं। भक्तों के वेदना विगलित आलाप को सुन कर ये शीघ्र प्रसन्न होते हैं और अभीष्ट फल की प्राप्ति करा देते हैं। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इनके ही महत्तम चरित्र का गान है। इसमें दानवीरता के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है——

> क्षीराब्धेरवहेलया वितरणं निर्यन्त्रणं वर्षणं,
> हेम्नः क्रुद्धकृतान्तमुक्तफणभृत्पाशग्रहोद्बर्हणम्।
> यच्चाप्युत्कटकालकूटकवलीकारादिकर्माद्भुतं,
> क्रीडामात्रकमेव यस्य तदसौ देवः कथं वर्ण्यते।।[2]

यहाँ पर उपमन्यु की प्रार्थना से प्रसन्न होकर क्षीरसागर दान एवं राजा मरुत्त के नगर में सात दिनों तक स्वर्ण वर्षा की बात कही गई है।

धर्मवीर

शिव के धर्मवीर का उदाहरण वहाँ स्पष्ट हो जाता है जब संध्या देवी की उत्पत्ति कर ब्रह्मा स्वयं उसके रूप लावण्य पर मोहित हो, अधर्म का मार्ग अपना लेते हैं। श्रीशिव धर्म के प्रवर्तक ब्रह्मा को धर्म से च्युत देख कर उनका वध कर देते हैं। इसी भाव को कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है——

> क्वाप्युद्धृतविधातृमृगोत्तमाङ्ग–
> मुत्सङ्गसङ्गतमृगं क्वचिदोषधीशम्।

---

1. साहित्य दर्पण, 3/232–234
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/50

क्रूरं क्वचिन्मृगवधैकरतिं किरातं
वातं क्वचिन्मृगरथ विभुमाश्रयामि।।[1]

यहाँ पर शिव ने धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मा का भी वध कर दिया, अतः यहाँ धर्मवीर का उदाहरण है।

युद्धवीर

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में युद्धवीर के अनेक उदाहरण हैं। भगवान् शिव की वीरता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि जिन्होंने रणभूमि में मन्दराचल पर्वतरूपी धनुष–बाण धारण कर बाण की नोक से प्रकट हुए अग्नि की उल्बण ज्वालाओं से सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त विष्णु को बाण बनाकर मुखाग्र पर अग्नि की लपटों की तरह धधकते हुए महाविष से व्याप्त जिह्वाओं से युद्धरूपी वस्त्र को भस्म करने वाले वासुकी को प्रत्यंचा बनाकर त्रिपुरासुर का संहार किया, उस स्वेच्छाविहारी भगवान् शिव की मैं शरण लेता हूँ—

चक्री मुखाग्रविलसज्ज्वलनोग्रज्जिह्वा
लीढाम्बरः क्षितिधरेन्द्रधनुर्धरस्य।
यस्यागमन्निधनसाधनतां पुराणां
बाणीकृतश्च रणमूर्ध्नि गुणीकृतश्च।।[2]

यहाँ पर त्रिपुरासुर आलम्बन, धनुष की नोक से उत्पन्न अग्नि की ज्वालाएँ एवं त्रिपुरासुर की दर्पोक्तियाँ उद्दीपन विभाव हैं। गर्वीली वाणी एवं अस्त्र–शस्त्र की झंकार अनुभाव, आवेग, गर्व, औत्सुक्य एवं धृति आदि संचारिभाव हैं जिनके द्वारा परिपुष्ट स्थायिभाव उत्साह वीर रस की चर्वणा करा रहा है।

दयावीर

दयावीर की स्थिति वहाँ पाई जाती है, जहाँ सर्वसमर्थ व्यक्ति शरणागत व्यक्ति के ऊपर दया करके उसकी रक्षा करता है। कुसुमाञ्जलि में दयावीर के अनेकत्र उदाहरण हैं। एक स्थल अवलोकनीय है—

यः क्षीरनीरनिधिमङ्घ्रितले सुधाम्भः,
कुम्भं करे शिरसि देवनदीमदीनाम्।
हर्तुंबिभर्ति भविनामणुकर्ममाया–
मूल मलत्रयमयं तमहं श्रयामि।।[3]

भाव यह है कि करुणा–सागर प्रभु जीव के स्वभाव के लिए चरणों में क्षीरसागर, हस्तकमल में अमृतपूर्ण कलश और मस्तक पर विशाल मन्दाकिनी को धारण करते हैं। वैसे निष्कारण दयावीर प्रभु की मैं शरण हूँ। यहाँ पर शिव आलम्बन उनके चरणों में क्षीरसागर

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/439
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/17
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/36

और हाथों में अमृत कलश आदि का होना उद्दीपन विभाव है। भक्तों पर शीघ्र प्रसन्नता एवं दया भाव अनुभाव तथा स्मृति, धृति, औत्सुक्य आदि संचारिभाव हैं, जिनके द्वारा परिपुष्ट उत्साह स्थायिभाव से वीर रस का आस्वादन हो रहा है।

भयानकरस

भयानक रस का स्थायिभाव भय है। इसके मूल में संरक्षण या पलायन की प्रवृत्ति बनी रहती है। जिसके कारण भय उत्पन्न होता है वह आलम्बन एवं उसकी चेष्टाएँ एवं आकृति आदि उद्दीपन विभाव है। विवर्णता गद्गद भाषण, स्वेद, रोमांच आदि अनुभाव एवं जुगुप्सा, आवेग, मोह, त्रास आदि संचारिभाव हैं—

भयानको भय-स्थायिभावः कालाधिदैवतः।
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदावलम्बनं मतम्।।
चेष्टाघोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः।
जुगुप्सावेगसंमोह-त्रासग्लानिरदीनता।।[1]

इन विभावादि के द्वारा स्थायिभाव भय भयानक रस की अनुभूति कराता है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में एक स्थल पर कवि शिव के भयंकर रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि जिस प्रभु का दाढ़ों से विशाल घोर अघोर नामक मुख तथा अंग में लगे हुए भस्म अपने भक्तों के लिए मङ्गलकारी है, उस प्रभु की मैं शरण लेता हूँ—

दष्ट्राकरालमपि घोरमघोरवक्त्रं
यस्य प्रपन्नभयभञ्जनभङ्गिमेति।
यस्याङ्गभस्मकणिकाश्चरणाश्रितेषु,
कर्पूरधूलिपटलश्रियमाश्रयन्ति।।[2]

यहाँ पर विकराल दंष्ट्र, सर्प एवं भूत-प्रेतादि आलम्बन, सर्पों की चेष्टाएँ एवं घोर-अघोर मुखों का भयोत्पादकत्व उद्दीपन विभाव है। रोमांच, स्वेद, कम्प एवं वैवर्ण्य आदि अनुभाव और शंका, चिन्ता, ग्लानि, त्रास, आवेग, जुगुप्सा आदि संचारिभाव हैं, जिनके द्वारा स्थायिभाव भय परिपुष्ट होकर भयानक रस की निष्पत्ति करा रहा है। इसी तरह और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं।

बीभत्स रस

इसका स्थायिभाव जुगुप्सा है। घृणित वस्तुओं या व्यक्ति का दर्शन आलम्बन, उसके रूप में विकृति का उत्पन्न होना उद्दीपन, उसका असम्बद्ध प्रलाप एवं रोना-चिल्लाना अनुभाव तथा ग्लानि, शङ्का, आलस्य, दैन्य आदि संचारिभाव हैं—

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदैवतो यमुदाहृतः।

---

1. साहित्य दर्पण, 3/236-238
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/10

दुर्गन्धमासरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्।।[1]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इस रस का उदाहरण कुछ ही स्थलों पर मिलता है—

न हृद्यतामेति परस्य दुर्मुखः
शिशुः स्रवत्पीनसदिग्धनासिकः।
पितुः स्वकीयस्य तु जीविताधिक-
स्तथोपहास्योऽपि ममायमुद्यमः।।[2]

इस पद्य में बीभत्स रस की स्थिति देखी जा सकती है। कवि कहता है कि जैसे कुत्सितमुख, लार और कीच से गंदे मुख वाला शिशु दूसरे व्यक्ति को घृणित लगता है, किन्तु अपने माता-पिता का वही वात्सल्यभाजन होता है। उसी प्रकार मेरी यह दोषयुक्त स्तुति दूसरे को भले ठीक न लगे, परन्तु मेरे लिए तो यह महत्त्वपूर्ण ही है।

यहाँ पर जुगुप्सा स्थायिभाव को रमणीय बनाने में घृणित बालक आलम्बन एवं उसके मुख की विकृति उद्दीपन, नाक भैंह सिकोड़ना एवं उससे कतराना आदि अनुभाव और निर्वेद ग्लानि जुगुप्सा आदि संचारिभाव सहायक हैं।

अद्भुतरस

इस रस का स्थायिभाव विस्मय है। इसमें किसी अदृष्टपूर्व वस्तु को देखकर व्यक्ति अवाक् हो जाता है। विस्मय या अद्भुत रस की सहज प्रवृत्ति जिज्ञासा है। कुछ लोग तो अद्भुत रस को चमत्कारी होने के कारण इसका सद्भाव सभी रसों में मानते हैं—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः।।
पीतवर्णो वस्तुलोकातिगमालम्बनं मतम्।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च गद्गदस्वरसम्भ्रमाः।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावा प्रकीर्तिताः।।
वितर्कावेगसम्भ्रान्ति हर्षाद्या व्यभिचारिणः।[3]

महाकवि ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर शिव के अद्भुत रूप का वर्णन किया है। अर्द्धनारीश्वरस्तोत्र एवं हरिहरस्तोत्र तो पूर्णरूपेण अद्भुतरस का भण्डार है। उदाहरण के लिए एक पद्य—

अङ्गे धृताङ्गनमनङ्गकृताङ्गभङ्गं
विश्वाधिनाथमथ खण्डकपालपाणिम्।
उग्रं शिवं हरमघोरमजं च सद्यो-
जातं च विस्मय-निधिं विभुमाश्रयामि।।[4]

---

1. साहित्य दर्पण, 3/339-341
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/4
3. साहित्य दर्पण, 3/242-244
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/41

इसमें कवि शिव के आश्चर्योत्पादक रूप का वर्णन करते हुए कहता है कि इनमें विभिन्न तत्त्वों का समावेश है। ये कभी रौद्ररूप कभी सौम्य रूप हैं। ये अनादि, अजन्मा होकर भी सद्योजात हैं। कामारि होते हुए भी अर्द्धनारीश्वर हैं, जगदीश्वर हैं और खण्डकपाल भी। इस प्रकार शिव के इस स्वरूप वर्णन में, शिव आलम्बन एवं खण्डकपाल, विश्वाधिनाथ आदि उद्दीपन विभाव हैं। विस्मय, शङ्का, चिन्ता, मोह आदि संचारिभाव हैं एवं स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, आँखों का विस्फारित होना आदि अनुभाव हैं। इनके द्वारा परिपुष्ट स्थायिभाव विस्मय अद्भुत रस में निष्पन्न हो रहा है।

शान्तरस

इसका स्थायिभाव निर्वेद है।[1] भगवद्दर्शन या किसी महापुरुष का दर्शन आलम्बन उसकी दैनिक क्रियाएँ उद्दीपन विभाव हैं। सांसारिक विषयों से अनिच्छा एवं पूजा-पाठ जपादि करना अनुभाव है, निर्वेद, दैन्य, चिन्ता, धृति, व्रीडा, विषाद, प्रबोध आदि संचारिभाव हैं। श्रीविश्वनाथ ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

अनित्यत्वादिनाशेषवस्तु निःसारता तु या।।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्य-वनादयः।।
महापुरुष संगाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथास्युर्व्यभिचारिणः।
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः।।[2]

शान्त रस की अवस्था में किसी प्रकार की चिन्ता और दुःख नहीं रहता। इसलिए सभी रसों में शान्त रस की श्रेष्ठता मानी गई है—

न यत्र दुखं न सुखं न चिन्ता,
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः प्रशान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः।।[3]

इसके दो रूप हो सकते हैं—प्रकृतिविषयक शान्तरस एवं विरक्तिविषयक शान्तरस।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इस रस के अनेक स्थल हैं।

प्रकृतिविषयक शान्तरस

प्रकृति के मनोहारि दृश्यों एवं रमणीय तथा हृदय में शीतलता प्रदान करने वाले पवित्र तीर्थस्थलों को देखकर व्यक्ति को जागतिक विषयों से विरक्ति हो जाती है। इसका सुन्दर

1. काव्य प्रकाश, 4/35
2. साहित्य दर्पण, 3/245, 246, 247, 248
3. काव्यप्रकाश, बालबोधिनी

उदाहरण तब मिलता है जब कवि भगवती भागीरथी का वर्णन करते हुए हरिणों के निर्भ्रान्त विचरण एवं पर्वतमालाओं की छवि देखता है—

रोमन्थमन्थरकुरङ्गशताश्रितेषु,
भागीरथीशिशिरशीकरशीतलेषु।
रोहन्महार्हफलकन्दलसुन्दरेषु
बद्धास्पदास्तुहिनभूधरकन्दरेषु।।[1]

इसी तरह और एक स्थल पर पर्वतों से टकराती गङ्गा का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।[2]

विरक्तिविषयक शान्तरस

यह सांसारिक अनित्यता एवं ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि के द्वारा विरक्ति से उत्पन्न तत्त्व–ज्ञानमूलक होता है। इसमें स्थायिभाव निर्वेद की प्रधानता रहती है। शान्तरस के इस पक्ष का भी कुसुमाञ्जलि में प्रचुर उदाहरण हैं—

किं भूयोभिः परुषविषयैः श्रीविकारैकसारैः
किं वा भूयः पतनविरसैः स्वर्गभोगाभिलाषैः।
मन्ये नान्यद्भवभयविपत्कातराणां नराणां
मुक्त्वा भक्तिं भगवति भवे शस्यमाशास्यमस्ति।।[3]

यहाँ पर निर्वेद स्थायिभाव, सांसारिक विषय आलम्बन, राजाओं की कटूक्तियाँ धन–सम्पत्ति की नश्वरता आदि उद्दीपन विभाव हैं। इनसे शान्तरस की चर्वणा हो रही है।

वात्सल्य रस

इस रस का स्थायिभाव स्नेह है। पुत्रादि विभाव एवं पिता का पुत्र आदि के प्रति स्नेह, प्यार, अनुभाव, मोह, स्मृति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारिभाव हैं। आचार्य विश्वनाथ ने इसे इस प्रकार लिखा है—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।।
उद्दीपनानि तच्चेष्टाविद्याशौर्यदयादयः।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्श–शिरश्चुम्बनमीक्षणम्।।
पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/35
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/72
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/41
4. साहित्य दर्पण, 3/251, 252, 253

इसमें इस रस के भी पर्याप्त स्थल हैं। कवि दीनाक्रन्दन स्तोत्र में कहता है कि जैसे पुत्र वत्सला माँ शिशु की रक्षा के लिए अपने स्तन्य का पान कराती; उसी प्रकार मेरी सरस्वती मुझ आर्त-अचेत बालक को संजीवनी औषधि पिला रही है—

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती,
संजीवनं भगवती विदधाति यस्य।
स्नेहस्नुतस्तनयुगा जननीव जीव-
रक्षार्थमार्तिविधुरस्य ममोक्तिदेवी।।[1]

यहाँ पर वात्सल्य रस का पूर्णरूपेण परिपाक हुआ है। इसी तरह अन्य स्थल भी हैं।

भक्तिरस

भक्तिरस स्तुतिकुसुमाञ्जलि का अङ्गीरस है। वस्तुतः इस स्तोत्र-काव्य में जिनते भी शृङ्गार, हास्य आदि रस हैं, वे मुख्यरूपेण भक्ति को ही परिपुष्ट करने से इस भक्ति के अङ्ग हैं। रूपगोस्वामी ने भक्ति नामक एक ही रस स्वीकार किया है और अन्य शृङ्गार आदि रसों को उस भक्ति का भेद।[2] इनके अनुसार भक्तिरस शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। सम्प्रति इन्हीं भेदों के आधार पर कुसुमाञ्जलि की भक्तिरस विषयक विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

शान्त भक्तिरस

जहाँ पर अनुकूल आलम्बन और उद्दीपन विभावों, अनुभावों एवं संचारी भावों द्वारा शान्तिरूप स्थायिभाव सामाजिक को आस्वाद का विषय होकर आनन्दित करे, वहाँ शान्त भक्तिरस होता है—

वक्ष्यमाणविभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः।
स्थायी शान्तरतिः धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः।।[3]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के 'सेवाभिनन्दन' स्तोत्र में कवि कहता है—महलों के दरवाजों पर नियुक्त द्वारपालों के द्वारा प्रताडित भाग्यवान् व्यक्ति सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुक्त योगियों द्वारा अलङ्कृत मन्दाकिनी के रम्य तट पर भगवान् शिव का भजन करते हैं—

धन्याः भजन्ति नृपवेश्मसु वेत्रिवक्त्र-
हुङ्कारकातरधियस्तरुणेन्दुमौलिम्।
वैराग्यनिर्वृतमनस्विजनावकीर्ण-
स्वर्गापगापुलिनबाललतायनेषु।।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/1
2. भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ. 317
3. भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ. 318
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/37

यहाँ पर भगवती भागीरथी का एकान्त स्थान आलम्बन एवं योगियों द्वारा घिरा रहना उद्दीपन विभाव है। द्वारपालों द्वारा कहे गये कटूक्तियों का स्मरण अनुभाव एवं निर्वेद ग्लानि, चिन्ता, धृति आदि संचारिभाव हैं जो निर्वेद स्थायिभाव को परिपुष्ट कर शान्त भक्तिरस का आस्वादन करा रहे हैं।

प्रीति भक्तिरस

अनुकूल विभावानुभाव और संचारिभाव द्वारा भक्त के हृदय में उत्पन्न प्रीति सामाजिक के आस्वादन योग्य होकर प्रीति भक्तिरस के रूप में प्रतीत होता है—

> आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
> नीता चेतसि भक्तानां ज्ञेया आलम्बना इह।।[1]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कवि कहता है—हे नाथ! आप त्रिलोकीनाथ की शरण में आकर भी यदि मैं निःशरण ही चला जाऊँ तो यह दोष मेरा ही है, क्योंकि गङ्गा के जल में रहने वाली मछली प्यासी है तो वह उसके संस्कार का ही दोष है—

> त्वामुपेत्य शरणं महेश्वरं
> देव! निःशरण एव चेदहम्।
> दोष एष मम जाह्नवीजले
> तर्षुलो हि शफरः स्वदुष्कृतैः।।[2]

यहाँ भक्त आलम्बन, शिव के प्रति दृढ़ता उद्दीपन विभाव है। शिव शरणागति अनुभाव एवं स्वभाग्य उपालम्भ संचारिभाव है। इनके द्वारा प्रीति रूप रति स्थायिभाव रसनीय हो रहा है।

प्रेयो भक्तिरस

सख्य स्थायिभाव स्वानुकूल विभावादिकों द्वारा सामाजिक के चित्त में पुष्ट होकर प्रेयो भक्तिरस के रूप में परिणत होता है—

> स्थायिभावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
> नीतश्चित्ते सतो पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते।।[3]

यद्यपि इस प्रेयो भक्तिरस का निदर्शन ईश्वर को सख्यभाव की दृष्टि से आराधना करने वाले कवियों की कृति में प्राप्त होता है, फिर भी श्रीजगद्धरभट्ट ने जहाँ भगवान् को उपालम्भ देकर अपने ऊपर अनुग्रह करने की प्रार्थना की है वहाँ इस रस का आस्वादन किया जा सकता है। कवि कहता है कि हे प्रभो! आपने श्रीपार्वती जी को वचन दिया था कि आपके अतिरिक्त किसी अपर स्त्री से प्यार नहीं करूँगा, फिर भी आप चन्द्रकला एवं देवाङ्गना को धारण करते हैं तो आप मेरी विचारी वाणी को क्यों नहीं स्वीकार करते—

---

1. भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ. 328
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 14/13
3. भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ. 365

एका त्वमेव भवितासि मम प्रियेति,
दत्तं वरं स्मरसि चेद्गिरिराजपुत्र्याः।
प्रेम्णा बिभर्षि कथमम्बरसिन्धुमिन्दु-
लेखाञ्च मूर्ध्नि हृदये दयितां दयां च।।[1]

वत्सल भक्तिरस

अनुरूप विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर वत्सल स्थायिभाव वत्सल भक्तिरस के रूप में परिणत होता है। भगवान् और गुरुजन इसके विभाव हैं।[2]

इसके उदाहरण के रूप में पूर्वोक्त वात्सल्य रस का उदाहरण या उसके समान भाव वाला पद्य उदाहृत हो सकता है। यथा—

धन्योऽस्मि सम्यगमृतं किमपि स्रवन्ती,
सञ्जीवनं भगवती विदधाति यस्य।
स्नेहस्नुत-स्तनयुगा जननीव जीव-
रक्षार्थमार्तिविधुरस्य ममोक्ति देवी।।[3]

भक्तिरस के अन्य भेदों की तरह रूपगोस्वामी ने मधुर भक्तिरस, शान्त भक्तिरस, अद्भुत भक्तिरस, हास्य भक्तिरस, वीर भक्तिरस, करुण भक्तिरस, रौद्र भक्तिरस आदि भेद माने हैं। जिसका निष्कर्ष यह है कि ये भक्ति को मुख्य रस मान कर पूर्व प्रदर्शित शृङ्गारादि रस भेदों को इसी भक्ति का भेद मानते हैं। अतः भक्ति के इन भेदों के उदाहरणों का पृथक् उपन्यास नहीं किया जा रहा है।

इस प्रकार यहाँ पर सक्षिप्तरूपेण पूर्वोक्त ग्यारह रसों की विवेचना प्रस्तुत की गई। स्तुतिकुसुमाञ्जलि स्तोत्र-काव्य है। इसमें शिव की स्तुति की गई है, अतः यहाँ मुख्य रूप से भक्ति रस ही है। अन्य शृङ्गार आदि इस भक्ति की ही आस्वादनीयता को अति उत्कृष्ट बनाने में उपयोगी हैं, अर्थात् यहाँ शृङ्गारादि रसों से परिपुष्ट भक्तिरस काव्य का अङ्गीरस है।

अलङ्कार विवेचन

ध्वनि-प्रस्थान के पूर्व काव्य जगत् पर अलङ्कार-प्रस्थान और रीति-प्रस्थान का प्रभाव था। इनमें भी अलङ्कार प्रस्थान का प्रभाव रीति प्रस्थान की अपेक्षा व्यापक था। अलङ्कार प्रस्थान के सभी आचार्यों ने अलङ्कार को काव्य की आत्मा कहा है। किन्तु आनन्दवर्धन के बाद इसका प्रभाव धीरे-धीरे लुप्त होने लगा। कतिपय आचार्यों ने तो गुण आदि के आधार पर अलङ्कारविहीन शब्दार्थ को भी काव्य स्वीकार कर अलङ्कार प्रभाव को क्षीण किया, "...स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः"।[4] परन्तु इसका प्रभाव इतना

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/17
2. भक्ति रसामृतसिन्धु, पृ. 394
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/1
4. काव्यप्रकाश, 1/4 वृत्ति

व्यापक हो चुका था कि आचार्य इसकी उपेक्षा नहीं कर सके, "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।"[1]

प्राचीन आचार्यों में भरतमुनि ने चार नाटकालङ्कारों का निर्देश किया है—

उपमा रूपकश्चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाः चत्वारो नाटकाश्रयाः।।[2]

परंन्तु इन्होंने अलङ्कार सामान्य का लक्षण प्रस्तुत नहीं किया। भामह ने बाह्य और आभ्यन्तर भेद से अलङ्कार की दो श्रेणियों को दिखाते हुए अलङ्कार सामान्य लक्षण स्थिर किया है—

रूपकादिरलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङाश्च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।।
तदेतदाहु सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदा इष्टाः द्वयं हि नः।।[3]

दण्डी ने स्पष्टरूप से काव्यशोभा को उत्पन्न करने वाले धर्म को अलङ्कार कहा है— काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलङ्कारान् प्रचक्षते।[4]

वामन के अनुसार भी काव्य के शोभाधायक तत्त्व को अलङ्कार कहा जा सकता है— 'अलङ्कारास्तदतिशय हेतवः'।[5] इसी प्रकार आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों की दृष्टि में भी अलङ्कार को काव्य का शोभाधायक तत्त्व ही माना गया है—

(क) अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्।
(ख) हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।
(ग) रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्ते कटकादिवत्।।[6]

अलङ्कारों के वर्ग निर्धारण के सम्बन्ध में भी भरत एवं भामह आदि आचार्य मौन हैं। अलङ्कार वर्गीकरण का श्रीगणेश वामनाचार्य से शुरू होता है। इन्होंने शब्द और अर्थ के नाम से दो वर्ग बताये हैं।[7] किन्तु मम्मट ने अलङ्कारों का वर्गीकरण अन्वय व्यतिरेक के आधार पर स्थिर कर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया, जो सुन्दर एवं सयुक्तिक हैं। वे हैं— शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, उभयालङ्कार।[8]

---

1. काव्यप्रकाश, 1/4
2. नाट्य शास्त्र, पृ. 206
3. काव्यालङ्कार, पृ. 7–8
4. काव्यादर्श, पृ. 5
5. काव्यालङ्कारसूत्र, पृ. 116
6. ध्वन्यालोक 1, काव्यप्रकाश 8, साहित्यदर्पण 10/1
7. काव्यालङ्कारसूत्र 4
8. काव्यप्रकाश, पृ. 491

अलङ्कारों की संख्या के सम्बन्ध में 'कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति'।[1] के रूप में दण्डी और 'सहस्रशो हि महात्मभिः अन्यैरलङ्काराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च'।[2] के रूप में आनन्दवर्धन आदि विद्वानों ने अलङ्कारों की संख्या अगणित मानी है। मम्मटाचार्य ने छः शब्दालङ्कारों, इकसठ अर्थालङ्कारों एवं एक उभयालङ्कार माना है। इस तरह इनके अनुसार अलङ्कारों की कुल संख्या अड़सठ है। जिनमें साधर्म्यमूलक, अतिशयमूलक, वैधर्म्यमूलक, औचित्यमूलक, वक्रतामूलक और चमत्कारमूलक अलङ्कार निरूपित किए गए हैं।[3] सम्प्रति मम्मटाभिमत अलङ्कारों के आधार पर ही हम स्तुतिकुसुमाञ्जलि की आलङ्कारिक विवेचना प्रस्तुत करेंगे।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अलङ्कारों का सुन्दरतम प्रयोग हुआ है। कवि ने स्वयं अपनी अलङ्कृता सरस्वती[4] से शिव को अनुरंजित करने की प्रार्थना की है। काव्य प्रशंसा में भी इनकी दृष्टि अलङ्कृत सूक्ति क्रम की ओर दृढ़ है।[5] इनकी रचना में शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार एवं उभयालङ्कार सभी के प्रयोग हुए हैं।

शब्दालङ्कार

मम्मट ने अन्वय व्यतिरेक के आधार पर इन अलङ्कारों का वर्गीकरण किया है। जहाँ शब्द का परिवर्तन कर देने से अलङ्कार योजना समाप्त हो जाती है वहाँ शब्दालङ्कार होता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शब्दालङ्कारों का प्रयोग अधिक हुआ है।[6]

अनुप्रास

रसानुकूल वर्णों (व्यञ्जनों) के सादृश्य को अनुप्रास कहते हैं। यह छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, लाटानुप्रास एवं अन्त्यानुप्रास भेद से पाँच प्रकार का होता है।[7]

छेकानुप्रास

एक से अधिक व्यंजन वर्णों की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास है।[8] इसका उदाहरण स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अवलोकनीय है—

> येषामन्तः सुकृतसरणिः स्थाणवीया न भक्ति-
> र्व्यक्तिं धत्ते रसकृदसकृन्नास्मि तेषु स्मितेषु।
> लोकः शोकं त्यजति सहसा यत्र तद्भक्तियुक्तं,
> युक्तं मन्ये रुदितमुदितश्लाघमुल्लाघहेतुम्।।[9]

---

1. काव्यादर्श 3/15 की वृत्ति
2. ध्वन्यालोक, 1/1 की वृत्ति
3. काव्यप्रकाश 9, 10 उल्लास के आधार पर
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/3
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/31
6. काव्यप्रकाश, 8 उल्लास
7. काव्यप्रकाश, 9 उल्लास
8. काव्यप्रकाश, 9 उल्लास
9. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 17/8

यहाँ पर भक्ति–व्यक्ति, स्मितेषु–स्मितेषु, युक्तं–युक्तं, श्लाघ्य–उल्लाघ्य आदि व्यञ्जनों का एक बार सादृश्य होने से छेकानुप्रास है।

वृत्त्यनुप्रास

जहाँ पर एक या एक से अधिक व्यञ्जन वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो वहाँ वृत्त्यनुप्रास होता है।[1] कुसुमाञ्जलि में इसके भी अनेक उदाहरण मिलते हैं, यथा—

हृदय भावय भावमनाविलं
निरवधान बधान दृढां धृतिम्।
त्वमसमर्थ समर्थयसे सुखं
किमविनाशि विना शिवसेवनम्।।[2]

यहाँ पर यभाव–यभाव, बधान–बधान, समर्थयसे–समर्थयसे, विनाशि–विनाशि पदों में व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति अनेक बार होने से वृत्त्यनुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास

जहाँ पर तालु कण्ठ या मूर्द्धा आदि किसी एक स्थानीय वर्ण की समता देखी जाए वहाँ श्रुत्यनुप्रास होता है।[3] स्तुतिकुसुमाञ्जलि में स्थल अवलोकनीय है—

जगद्विधेयं ससुरासुरं ते,
भवान् विधेयो भगवन् कृपायाः।
सदीनताया नमतां विधेया,
ममास्त्ययत्नोपनतैव सेति।।[4]

यहाँ पर सा दी न आदि अक्षरों के एक स्थानीय होने से श्रुत्यनुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास

पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ पादान्त में व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति हो तो उन्हें अन्त्यानुप्रास कहते हैं।[5] उदाहरण द्रष्टव्य है—

न मे तथा प्रीतिमनेकपाली,
करोति नो वा दयिताङ्कपाली।
यथोक्तिदेवी स विभुः कपाली,
ययार्च्यते सेवकलोक पाली।।[6]

---

1. काव्यप्रकाश, 9 उल्लास
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/39
3. काव्यप्रकाश, 9 उल्लास, सा.द., पृ. 342
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि,12/5
5. साहित्यदर्पण, पृ. 413
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 14/20

यहाँ पर चारों चरणों के अन्त में कपाली पद की आवृत्ति होने से अन्त्यानुप्रास है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी अनुप्रास के पांचों प्रकारों के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

यमकालङ्कार

अर्थवान् किन्तु पृथक् अर्थ रखने वाले स्वर और व्यंजन की क्रम से आवृत्ति जहाँ होती है वहाँ यमक नामक शब्दालङ्कार होता है—

सत्यर्थे पृथगर्थाया: स्वरव्यंजन–संहते:।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते।।1

यमकालङ्कार के सम्बन्ध में श्रीजगद्धरभट्ट को सिद्ध कवि कहा जा सकता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में यमकालङ्कार की पराकाष्ठा है। कवि ने पदे–पदे यमकालङ्कार का चमत्कारिक प्रयोग किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

सदय मोदय मोदयमोक्षदं
कृशमद: शमद: शमद: कुरु।
न हि तता हितताऽऽहिततायनै:
कृतनुते तनु ते तनुते शुभम्।।2

यहाँ पर यमक का सुन्दर सन्निवेश है। इसके अतिरिक्त इस स्तोत्रकाव्य में द्विपदयमक, पादादियमक, पादमध्ययमक, पादान्तयमक, एकान्तरयमक, महायमक आदि स्तोत्र यमकालङ्कार के भण्डार हैं। यद्यपि यमक का प्रयोग चित्रकाव्य शब्द चमत्कार के लिए है। इसके प्रयोग से काव्य के रस आस्वादन में अवरोध होता है, किन्तु जगद्धरभट्ट द्वारा प्रयुक्त यमक स्थल में उपर्युक्त बातें पूर्णत: लागू नहीं होतीं। क्योंकि शब्द सौन्दर्य के लिए प्रयुक्त यमक यहाँ काव्य के अर्थप्रवाह में बाधक नहीं है। उदाहरणार्थ एक स्थल देखा जा सकता है—

देवालये वसतिमर्थयते कपोत:
सिन्धौ वणिग्भजति वृत्तिमशङ्कपोत:।
पृष्ठे श्रियं वहति नित्मनेकपोत:
त्वद्भक्तिमेमि सरसीमिव भेकपोत:।।3

यहाँ पर यमकालङ्कार के प्रयोग से शब्दों में सौन्दर्य तो है ही, भाषा में प्रवाह और भाव की निर्मलता भी पाठक को सहज में ही आकृष्ट कर लेती है। इसी तरह अन्य स्थल भी उल्लेखनीय हैं।4

---

1. साहित्यदर्पण, पृ. 422
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/23
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/42
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 24/1, 24/14, 26/6, 27, 27/6, 14, 8/12, 28/17, 30/23

वक्रोक्ति

स्वाभिप्राय से कही गई किसी की बात को दूसरे अभिप्राय से समझ लेना वक्रोक्ति अलङ्कार है। यह सभंगश्लेष अभंगश्लेष और काकुमूलक होने से तीन प्रकार का होता है—

> यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
> श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।[1]

सभंगश्लेष

> सुदुर्लभोऽयं भवति ग्रहः पुन-
> र्मुखेप्यसौ सन्निहिता सरस्वती।
> इदं कुरुक्षेत्रमतीव पावनं
> किमर्थमर्थिन्युचिते विलम्बसे।।[2]

इस पद्य में 'कुरुक्षेत्रमतीव पावनं' का विना भंग किए ही विशेष अर्थ की प्रतीति हो रही है। कवि ने यहाँ शब्द श्लेष से अपूर्व चमत्कार भर दिया है। वह कहता है कि हे प्रभो! यह अतिदुर्लभ ग्रहण है। पास में ही सरस्वती नदी है, अतिपवित्र कुरुक्षेत्र तीर्थ भी है और सुयोग्य दानगृहीता आपके पास वर्तमान है, अतः विलम्ब मत करिये। इसी तरह का एक और उदाहरण देखा जा सकता है।[3]

अभङ्गश्लेष

> प्रस्तौति निस्त्रपतयार्तिकदर्थितेयं
> चाटूनि कर्तुमपि मौग्ध्यविसंष्ठुलानि।
> कात्यानीवचनदुर्ललितस्य तानि,
> मुक्तोपमानि न मनस्तव नन्दयन्ति।।[4]

यहाँ पर कात्यायनी पद को विना भंग किए ही दो अर्थों की प्रतीति हो रही है। सामान्यतया कवि यह कह रहा है कि हे नाथ! कात्यायनी पार्वती की सरस बातों को सुनने के अभ्यासी आपको मेरी नीरस वाणी अच्छी नहीं लगती, किन्तु वक्रोक्ति द्वारा यह भी कह रहा है कि हे प्रभो! आप कात्यायनी अर्द्धवृद्धा[5] की बातों को सुनने के अभ्यासी हैं, मेरी मुग्धा नयी चाटूक्तियाँ अच्छी नहीं लगतीं।

काकुवक्रोक्ति

> यद्वा न मुग्धचरितान्यपि न प्रसाद-
> मुत्पादयन्ति भवतः करुणार्णवस्य।

---

1. काव्यप्रकाश, 9 उल्लास
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/13
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/16, 9/17
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/19
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, पृ. 185

स्वामिन्दरत्पुरविहारमपास्य किं न
चेतो हरन्ति तव बालकवल्गितानि।।[1]

अर्थात् हे प्रभो! मूर्खों के चरित्र भी आपके मन में प्रसन्नता उत्पन्न नहीं करते? अर्थात् करते ही हैं, क्या दरत्पुर (लम्बाकदेश) के बालकों के साथ क्रीड़ा में दत्तचित्त आपके मन को बालकों के नृत्य नहीं आकृष्ट करते? अर्थात् करते हैं। अत: उसी प्रकार मेरी स्तुति पर आप ध्यान दीजिए। यह आपको अवश्य ही अच्छी लगेगी। इस प्रकार यहाँ काकुवक्रोक्ति है।

श्लेषालङ्कार

एक ही वाक्य में श्लिष्ट पदों द्वारा अनेक अर्थों का बोध श्लेष है और यह काव्य का उपस्कारक होने से अलङ्कार है—

श्लिष्टैपदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।[2]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। एक द्रष्टव्य है—

भक्तप्रिय: स्वयमपि क्षुधयान्वितस्य,
पानोत्सवैकरसिकोऽपि पिपासितस्य।
तापातुरस्य घनसेवनसादरोऽपि,
जानासि नाथ! न कथं सहसा ममार्तिम्।।[3]

यहाँ पर शब्द श्लेष है। भक्तप्रिय: पानोत्सवैकरसिकोऽपि, घनसेवनसादरोऽपि पद में श्लेष है। अर्थ है—हे नाथ! आप भात के प्रेमी होकर भी क्षुधा पीड़ित की व्यथा नहीं समझते, रसायन सेवी होकर भी पिपासु मेरे ऊपर ध्यान नहीं देते। घन–कर्पूरप्रेमी होकर भी तापातुर मेरे ऊपर ध्यान नहीं देते। इस प्रकार यह द्वितीय अर्थ श्लिष्ट शब्दों के कारण ही है।

पुनरुक्तवदाभास

जहाँ पर पृथक्–पृथक् अर्थ कराने वाले एक ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग हो तथा वह पुनरुक्त न होकर भी पुनरुक्त की तरह लगता हो, वहाँ पुनरक्तवदाभास अलङ्कार होता है—

पुनरुक्तवदाभास: विभिन्नाकारशब्दगा, एकार्थतेव शब्दस्य।[4]

इसका भी उदाहरण कुसुमाञ्जलि में पर्याप्त स्थलों पर मिलता है—

अम्बरेण गगनेन संवृतं जीवनै: शिरसि वारिभि: श्रितम्।
भोगिभिश्च भुजगैर्विभूषितं शङ्करं शुभकरं भजामहे।।[5]

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/12
2. काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ. 421
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/68
4. काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, पृ. 430
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/21

यहाँ पर अम्बरेण गगनेन, जीवनैः वारिभिः, भोगिभिः भुजंगैः शङ्करं शुभकरं—इन पदों में पुनरुक्ति दोष नहीं, प्रत्युत् पुरुक्त वदाभास है और यह काव्य का शोभादायक उपस्कारक होने से अलङ्कार है।

इस प्रकार उपर्युक्त शब्दालङ्कारों का स्तुतिकुसुमाञ्जलि में विवेचन किया गया। जिन शब्दों के द्वारा इन अलङ्कारों की व्यवस्था हो पायी है, उन शब्दों को परिवर्तित कर दिया जाए तो अलङ्कार की स्थिति नहीं रह पाएगी। यही शब्दालङ्कार की कसौटी है।[1]

अर्थालङ्कार

जहाँ शब्द के परिवर्तित कर देने पर भी अलङ्कार के उत्कर्ष में न्यूनता नहीं आती, उन्हें अर्थालङ्कार कहते हैं।[2] सम्प्रति अर्थालङ्कार की दृष्टि से स्तुतिकुसुमाञ्जलि की विवेचना प्रस्तुत है।

उपमालङ्कार

उपमान एवं उपमेय का परस्पर भेद होने पर भी जहाँ उसके धर्मों के आधार पर सादृश्य बतलाया जाए, वहाँ उपमालङ्कार होता है—

सादृश्यमुपमा भेदे।[3]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर उपमालङ्कार की छटा है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल अवलोकनीय हैं—

आपन्न–ताप–हरण–प्रवणा–घृणेव,
त्वङ्गत्तरङ्गसुभगा गगनापगेव।
पीयूषसारशिशिरा शशभृत् कलेव,
वाणी शिवैक–शरणा जयतीश्वरीव।।[4]

कवि शिवैकशरणा वाणी को 'आपन्नताप–हरणप्रवणा' करुणा की तरह 'त्वङ्गत्तरङ्गसुभगागगनापगा' की तरह उत्कृष्ट मानता है। अतः यहाँ उपमा के चारों धर्मों के विद्यमान होने से पूर्णोपमालङ्कार है। इसी प्रकार अन्य उपमा भेदों के भी स्थल देखे जा सकते हैं—

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीथिः
व्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च
तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये वः।।[5]

---

1. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, वृत्ति भाग
2. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, वृत्ति भाग
3. काव्यप्रकाश, 10/1
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/1
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/2

उक्त पद्य में शङ्कर उपमेय तथा व्योम, सरसी, सुधांशु उपमान है। 'इव' उपमावाचक शब्द एवं उदेति लीयते च साधारण धर्म है। अतः यहाँ पर भी पूर्णोपमालङ्कार है।

मालोपमा

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।[1]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के निम्न पद्य में इसका उदाहरण देखा जा सकता है—

निशान्तनिद्रेव दशेव शैशवी,
नवीन वध्वाश्चकितेव दृक्च्छटा।
सुरस्रवन्तीव कथेव शाम्भवी,
कवीन्द्रवाङ्निर्वृतिमातनोतु वः।।[2]

यहाँ पर कवीन्द्र वाक् को निशान्त निद्रा, शैशवी दशा, दृक्च्छटा आदि उपमानों से उपमित किया गया है। अतः यहाँ मालोपमालङ्कार है।

उत्प्रेक्षालङ्कार

जहाँ प्रकृत उपमेय को समेन अप्रस्तुत उपमान की सम्भावना की जाए, वहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार होता है—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।[3]

कवि के एक पद्य में शिव की मूर्ति को साक्षात् अमृतवर्ती के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है—

मूर्तिर्ध्रुवं तव शिवामृतवर्तिरेना–
मासाद्य यत्कतिचिदश्रुलवाः पतन्ति।
नश्यत्यघौघपटलं तिमिरं व्यपैति
रागः प्रशाम्यति दृशः प्रथते प्रसादः।।[4]

यहाँ पर कवि शिवामृतवर्ति को मात्र नेत्र रोगनाशक ही नहीं, प्रत्युत् जन्म, जरा और मृत्यु के भी नाशक के रूप में उत्प्रेक्षित किया है।

रूपकालङ्कार

जहाँ पर उपमान और उपमेय में अभेद प्रदर्शित किया गया हो वहाँ रूपकालङ्कार होता है—

तद्रूपकमभेदो यः उपमानोपमेययोः।[5]

श्रीजगद्धरभट्ट ने इस अलङ्कार का अनेकत्र प्रयोग किया है। कुछ अवलोकनीय हैं—

---

1. काव्यप्रकाश, 10/4
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/1, 9/49
3. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 19/3
5. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास

दानाम्बुनिर्भरकरस्तनयः स यस्य,
श्रीमान् स यस्य धनदः सविधे विधेयः।
यः संश्रितः शिरसि मुक्तकरेण राज्ञा,
पुष्णातु वः कनकवर्षघनः स देवः।।[1]

यहाँ पर शिव पर मेघ का आरोप किए जाने से रूपकालङ्कार है। इसी तरह 'मालारूपक' का एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है—

जयत्यघवनाशनिः सुमतिमाधवी माधवः
कृपामृतपयोनिधिर्भवमहार्णवैकप्लवः।
विपत्तृणसमीरणप्रणयिचित्तचिन्तामणिः
समस्तभुवनोदयप्रलयकेलिकारो हरः।।[2]

यहाँ पर 'हर' के ऊपर अनेक उपमानों के आरोपित होने से मालारूपक है।

इसी प्रकार परम्परित रूपक की भी छटा देखी जा सकती है—

जयति चित्तचकोरकचन्द्रिका
सुकृतिनां वदनाब्जरविच्छविः।
श्रवणबर्हिण–वर्षणवर्तिनी
हरिणकेतुकलामुकुटस्तुतिः।।[3]

यहाँ पर चित्त पर चकोर का आरोप–मुख में कमल का आरोप एवं श्रवण में मयूर का आरोप होने से परम्परित रूपक है।

संदेहालङ्कार

एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्म वाली अनेक वस्तुओं की सम्भावना संदेहालङ्कार है। यह भेदोक्तिमूलक और तदनुक्तिमूलक दो प्रकार का होता है—

स संदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।।[4]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसके अनेक उदाहरण हैं, यथा—

किमियं सद्गुरुदृष्टिः ह्लादैकमयी नु किं जगत्सृष्टिः।
किं वा निरभ्रवृष्टिः श्रवणामृतवर्षिणी नुतिः शम्भोः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/14
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/8
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/1
4. काव्यप्रकाश, 10/1/15
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 37/7

यहाँ पर एक ही शिव स्तुति में विरुद्ध धर्मी गुरु की दृष्टि, ब्राह्मी सृष्टि एवं निरभ्रवृष्टि की सम्भावना की गई है, अत: यहाँ संदेहालङ्कार है। इसी तरह अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।[1]

अनुमानालङ्कार

जहाँ पर हेतु द्वारा साध्य का चमत्कारपूर्वक ज्ञान कराया जाए वहाँ अनुमान अलङ्कार होता है—

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वच:।[2]

यह न्यायमूलक अर्थालङ्कार है। इसमें साधन द्वारा जो साध्य की प्रतीति होती है, उसके काव्य में चमत्कार कारक होने से अनुमान उपस्कारक होता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं—

सत्यं महार्घगुणरत्ननिधानमेत–
दालम्बनं तव वपुः विपदर्दितानाम्।
नो चेन्नखांशुभर केसरितं किमत्र,
पादाभिदं युगपदुद्गतमब्जयुग्मम्।।[3]

यहाँ पर कमल के साथ निधि का साहचर्य सम्बन्ध है। जिससे अनुमान होता है कि चरणकमलों के रहने पर रत्नों का हृदय में रहना आवश्यक है। अत: यहाँ अनुमान अलङ्कार है। इसी तरह इसके अन्य स्थल भी देखे जा सकते हैं।[4]

निदर्शना

जहाँ पर वस्तुओं–वाक्यार्थों या पदार्थों का समन्वय आपातत: अनुपपन्न होता हुआ भी अन्त में उपमानोपमेयभाव में परिणत हो जाता है वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है—

अभवन् वस्तु सम्बन्धः उपमापरिकल्पकः निदर्शना।[5]

यथा स्तुतिकुसुमाञ्जलि में—

दीपोत्करै रविरुचां परिपूरणेयं
नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः।
अस्मादृशां मितदृशां नियतैर्वचोभिः
प्रस्तूयते भव तव स्तवचापलं यत्।।[6]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 19/18, 5/29
2. काव्यप्रकाश, 10/117
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 19/4
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/166
5. काव्यप्रकाश, 10/21
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/1

नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः इत्यादि वाक्यार्थ से सम्बद्ध होकर अन्ततः उपमानोपमेय भाव में परस्पर सम्बद्ध हो रहा है। अतः यहाँ निदर्शना अलङ्कार है।

व्याजस्तुति

जहाँ पर स्तुत्य वाक्यों द्वारा निन्दा और निन्द्य वाक्यों द्वारा स्तुति की जाए वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार होता है—

व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा।[1]

अवलोकनीय स्तुतिकुसुमाञ्जलि—

जात्यन्धः पथि संकटे प्रविचरन् हस्तावलम्बं विना,
यातश्चेदवटे निपत्य विपदं तत्रापराद्धोऽस्य कः।
धिग्धिङ्मां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति,
स्निग्धे स्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः।[2]

यहाँ पर निन्दामुखेन शिव की स्तुति की गई है।

समासोक्ति

जहाँ पर प्रस्तुतार्थ बोधक वाक्यों द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का बोध होता हो और प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों अर्थों का प्रतिपादन विशेष्य वाचक पद के महत्त्व से सम्भव हो वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है—

परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।।[3]

उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि का एक पद्य देखा जा सकता है—

एतां निसर्गसरलामभिजातमुग्धा–
मद्धावधीरयसि धीरगभीरमानी।
जानासि किं न शतशो नतशान्त्वनेषु,
यद्वृद्धयाः करुणया नरिनर्तितोऽसि।।[4]

श्लेषमूलक इस कथन का भाव यह है कि नयन और सान्त्वन व्यापार में किसी वृद्धा नायिका द्वारा बार–बार नचाया गया कोई नायक अपने को धीर गम्भीर बता कर मुग्धा नायिका का तिरस्कार करता है, वह उचित नहीं। इसी तरह भक्तों के लिए बढ़ी हुई करुणा की कठपुतली बने हुए आप द्वारा मेरी मुग्ध वाणी की उपेक्षा उ़चित नहीं।

---

1. काव्यप्रकाश, 10/124
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/135
3. काव्यप्रकाश, 10/151
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/18

विनोक्ति

जहाँ एक के विना दूसरे की अपूर्णता या अशोभित होना बताकर काव्य का उत्कर्ष बढ़ाया जाए वहाँ विनोक्ति अलङ्कार होता है—

विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्राऽन्यत् तत्करो भवेत्।।[1]

उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि का एक पद्य प्रस्तुत है—

यथा हि शीलेन विना कुलाङ्गना,
यथा विवेकेन विना मनीषिता।
सदर्थ–बोधेन विना यथा श्रुति–
र्महीभुजङ्गेन विना यथा मही।।[2]

यहाँ पर शीलेन विना कुलाङ्गना, विवेकेन विना मनीषिता आदि पदों के प्रयोग से विनोक्ति अलङ्कार की स्थिति है।

समुच्चय

जहाँ पर कार्य की सिद्धि के लिए कारण रूप में समुदाय का एकत्र होना वर्णित हो वहाँ समुच्चय अलङ्कार होता है—

तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्राऽन्यत् तत्करं भवेत्।[3]

उदाहरणार्थ कुसुमाञ्जलि का निम्न पद्य देखिए—

पृथुलसज्जघनोरुपयोधरा,
गुरुमरुच्चपला कुलिताम्बरा।
यदि भवेयुरिमा न घनागमे,
मृगदृशश्च दिशश्च धृतिच्छिदः।।[4]

मनुष्य का धैर्य लुप्त करने के लिए उपर्युक्त दो वस्तुओं में से एक ही पर्याप्त है फिर भी एक साथ दोनों कारणों का उल्लेख होने से यहाँ समुच्चयालङ्कार है।

अर्थान्तरन्यास

जहाँ पर विशेष से सामान्य या सामान्य से विशेष का समर्थन हो वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।[5]

---

1. काव्यप्रकाश, 10/142
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 13/36
3. काव्यप्रकाश, 10/177
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/19
5. काव्यप्रकाश, 10/36

उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि का निम्न पद्य प्रस्तुत है—

> दाने नदीनमुपकल्पयतः सहर्ष–
> माक्रम्य गामनुपमां गतिमास्थितस्य।
> नागेन्द्रसंभृत–महाकटकस्य कस्य,
> शस्यं विना त्वदिह–राजशिलामणित्वम्।।[1]

यहाँ सामान्य से विशेष–समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है।

विरोधाभास

जहाँ पर दो वस्तुओं में अर्थतः विरोध न होने पर भी विरोध के रूप में कहा जाए और वह विरोध केवल आभासित हो वहाँ विरोधाभास होता है—

> विरोधः सोऽविरुद्धेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः।।[2]

शिव की स्तुति के एक पद्य में कवि कहता है—

> यत्सत्यवत्यपि जगद्विदितानसूया,
> वाणी ममेयमिदमेव हि देव चित्रम्।
> अत्यद्भुतं पुनरिदं यदरुन्धतीयं,
> त्वामारिराधयितुरेवमुदीरितापि।।[3]

अर्थात् जो सरस्वती है वह अनसूया हो गई है और अनसूया अरुन्धती हो गई। किन्तु यह आभासित विरुद्धार्थ है। वास्तविक अर्थ है कि हे प्रभो! मेरी वाणी सत्यव्रत वाली होकर भी ईर्ष्या आदि दोषों से रहित और आपको प्राप्त न हो सकने वाली भी आपके आराधन में लीन है। इस तरह यहाँ विरोधाभास की स्थिति है।

व्यतिरेक

जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्य वर्णित हो वहाँ व्यतिरेकालङ्कार होता है—

> उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।।[4]

उदाहरणार्थ कुसुमाञ्जलि अवलोकनीय है—

> राकेन्दोरपि माधवादपि सतां संगादपि स्वामिनः,
> सम्मानादपि कामिनीकुचयुगभोगोपयोगादपि।
> शम्भो! सर्वशशाङ्कशेखरशिवश्रीकण्ठविश्वेश्वर–
> त्रायस्वेति सतां हरन्ति हृदयं सान्द्रामृतार्द्रा गिरः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 19/29
2. काव्यप्रकाश, 10/147
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/15, 9/11, 12, 1/20
4. काव्यप्रकाश, 10/160
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/5, 10/4

यहाँ पर उपमेय सूक्ति को उपमान पूर्ण चन्द्रमा वसन्त एवं कामिनी कुच युगल से उत्कृष्ट बतलाया है।

भ्रान्तिमान्

अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रकृत अर्थ में अप्रकृत अर्थ का भ्रम होना भ्रान्तिमान् है। यह काव्य का उपस्कारक होने से अलङ्कार कहा जाता है—

भ्रान्तिमानन्य–सवित्ततुल्यदर्शने।।[1]

श्रीजगद्धरभट्ट एक स्थल पर कहते हैं कि—

शैवी शिवं दिशतु शीतमरीचिलेखा,
जूटाहिरत्न–किरणच्छुरणारुणा वः।
देवी नवीननखलक्ष्मधियाऽपि धत्ते,
यत्संभ्रमं कुचतटे पटपल्लवं नः।।[2]

अर्थात् सर्पों की रत्न किरणों की कान्ति से अरुणाभ चन्द्रकला का बिम्ब पार्वती के वक्षःस्थल पर पड़ता है। पार्वती उसे नख लक्ष्म समझ कर वस्त्रों से छिपाने लगती हैं। यहाँ चन्द्रकला को रतिकालिक नखक्षति समझ कर छिपाना भ्रान्तिमान् अलङ्कार की प्रस्तुति करता है।

परिकरालङ्कार

जहाँ पर साभिप्राय विशेषणों के द्वारा प्रकृत अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वहाँ परिकरालङ्कार होता है और परिकराङ्कुर में विशेषण साभिप्राय नहीं विशेष्य साभिप्राय होता है—

विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।।[3]

निम्नलिखित पद्य में परिकर अलङ्कार की स्थिति अवलोकनीय है—

लोकत्रयाभ्युदयजन्ममही मदीयः
स्थानाधिरोहणविधावधिरोहिणी या।
सा चन्द्रचूडमुकुटध्वजबैजयन्ती,
जह्नोरनिह्नुतनया तनयावताद्वः।।[4]

यहाँ पर कवि गङ्गा की स्तुति करते समय तीनों लोकों के अभ्युदय की जन्मभूमि आदि साभिप्राय विशेषणों को गङ्गा के लिए रखा है। अतः यहाँ परिकरालङ्कार है।

---

1. काव्यप्रकाश, 10/165
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/23, 6/3
3. काव्यप्रकाश, 10/169
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/26

श्लेषालङ्कार

जहाँ एक ही वाक्य में अनेक अर्थ हों वहाँ श्लेष है—

श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्।[1]

उदाहरणार्थ कुसुमाञ्जलि का एक पद्य प्रस्तुत है—

दाने नदीनमुपकल्पयतः सहर्ष–
माक्रम्य गामनुपमां गतिमास्थितस्य।
नागेन्द्रसम्भृत–महाकटकस्य कस्य,
शस्यं विना त्वदिह राजशिरोमणित्वम्।।[2]

यहाँ दाने नदीनमुपकल्पयतः इत्यादि शब्दों का प्रकरणवशात् शिव के अर्थ में अभिधा द्वारा नियन्त्रित होने पर भी चक्रवर्ति–राजागत अपर अर्थ की प्रतीति हो रही है।

स्वाभावोक्ति

जब मनुष्य या किसी जीव के स्वाभाविक क्रिया या रूप का चित्रण हो तब स्वाभावोक्ति अलङ्कार होता है—

स्वाभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।।[3]

स्तुतिकार ने एक स्थल पर भक्तों की स्वाभाविक अवस्था का वर्णन किया है—

मीलद्विलोचनसमुद्गसमुद्गताश्रु–
स्रोतः स्नुतिस्नपितमूल–कलोपभागाः।
देवं शशाङ्ककलया कलितावतसं
शंसन्ति सन्त इह शङ्कर शङ्करेति।।[4]

यहाँ भक्त की स्वाभाविक अवस्था वर्णित होने से स्वाभावोक्ति है।

परिवृत्ति

पदार्थों का समान अथवा असमान (उत्तम अथवा हीन पदार्थों) के साथ जो परिवर्तन का वर्णन है, वह परिवृत्ति अलङ्कार है—

परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः।।[5]

कवि ने इसका बड़ा ही मनोरम ढंग से वर्णन किया है—

यस्ते ददाति रवमस्य वरं ददासि।
यो वा मदं वहति तस्य दमं विधत्से।

---

1. काव्यप्रकाश, 10/115
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/29
3. काव्यप्रकाश, 10/143
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/24
5. काव्यप्रकाश, 10/149

इत्यक्षरद्वयविपर्यय–केलिशील:
किं नाम कुर्वीति नमो न मन: करोति।।[1]

यहाँ पर कवि ने शिव के लिए रव के बदले वर और नम: के बदले में मन: देने की बात कही है, अत: यहाँ परिवृत्ति अलङ्कार है।

सारालङ्कार

वर्णन क्रम में किसी के उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन काव्य का शोभाधायक होने से सारालङ्कार है—

उत्तरोत्तरमुत्कर्ष: भवेत्सार: परावधि:।[2]

श्रीजगद्धरभट्ट कहते हैं—

तन्मानुष्यं प्रभवति सतामुत्तमा तत्र जाति:
सैका जाति: प्रसरति यशो यत्र पाण्डित्य हेतु:।
तत्पाण्डित्यं सरसमधुरा जृम्भते यत्र वाणी,
वाणी सापि प्रथयति रतिं शाङ्करी यत्र भक्ति:।।[3]

यहाँ पर अनेक वस्तुओं की श्रेष्ठता का वर्णन है, जो अन्त में शाङ्करी भक्ति में पर्यवसित हो गया है। अत: यहाँ सबसे उत्कृष्ट वस्तु शाङ्करी भक्ति का उल्लेख होने से 'सार' अलङ्कार है।

विभावना

हेतु के विना भी कार्य होना विभावना है—

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।।[4]

उदाहरण द्रष्टव्य है स्तुतिकुसुमाञ्जलि में—

इदमसाधितमेव रसायनम्
निरुपभोग–मिदं सुखमक्षयम्।
अमृतमेतदनम्बुधिमन्थनं
यदविनश्वरमीश्वर–सेवनम्।।[5]

यहाँ पर कारण के विना ही रसायन कार्य की उत्पत्ति, उपभोग के विना ही सुखानुभूति समुद्र मन्थन के विना ही रत्न की उत्पत्ति वर्णित होने से विभावना अलङ्कार है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/145
2. काव्यप्रकाश, 10/117
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/5
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/33

विशेषोक्ति

कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य का नहीं होना विशेषोक्ति है। यह विभावना से ठीक उल्टा है—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।[1]

उदाहरणार्थ स्तुतिकुसुमाञ्जलि का एक पद्य देखा जा सकता है—

अर्कस्य नोदगयनं शिशिरेऽपि यत्र,
शीतत्विषो न बहुलेऽपि कलापलापः।
क्षामश्च धाम न वहत्यपि वह्निरह्नि-
तत्त्रायतां पुररिपोर्नयनत्रयं वः।।[2]

यहाँ पर शिशिर ऋतु रूप कारण के विद्यमान रहने पर भी सूर्य का उत्तरायण नहीं होना, कृष्ण पक्ष—कारण के रहने पर भी चन्द्रकला में ह्रास न होना विशेषोक्ति है।

दीपकम्

जहाँ पर प्रकृत (उपमेय) और अप्रकृत (उपमान) धर्मों का एक बार उपादान अथवा कथन हो और एक ही कारक का अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध हो वहाँ दीपकालङ्कार होता है—

सकृवृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।।[3]

अधोलिखित पद्य में कवि ने दीपकालङ्कार का प्रयोग किया है—

संतापसम्पदपहारपटूनि सिद्ध-
सिन्धोरिवेन्दुधवलानि जलानि यस्य।
आकल्पयन्ति मदयन्ति पवित्रयन्ति,
संजीवयन्ति च जगन्ति भृशं यशांसि।।[4]

इस पद्य में यशांसि कर्त्ता कारक को, जगन्ति कर्म को, आकल्पयन्ति, मदयन्ति आदि अनेक क्रियाओं से सम्बद्ध होने से यहाँ दीपकालङ्कार है।

उदात्तालङ्कार

किसी व्यक्ति या वस्तु के ऐश्वर्य या महिमा का वर्णन काव्य में उदात्तालङ्कार कहलाता है—

उदात्तं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्।[5]

---

1. काव्यप्रकाश, 10/92
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/38
3. काव्यप्रकाश, 10/118
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/29
5. काव्यप्रकाश, 10/163

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इस अलङ्कार का अनेकत्र प्रयोग है। उदाहरणार्थ एक स्थल उल्लेखनीय है—

यत्र ब्रह्माण्डपिण्डः प्रसरति सरलालाबुतुम्बीविडम्बी
स्थैर्यं झाङ्कारि वारि प्रथयति तदपि स्कन्धबन्धेषु यस्य।
सोऽपि स्फारेण भर्तुं प्रभवति पवनो यस्य नोद्देशलेशं,
धाम्नामाधारभूतं भव भवति वपुस्तन्नमस्ते नमस्ते।।[1]

इसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्तर्गत स्थिर रहने वाले शिव के आकाश मूर्ति का ऐश्वर्य वर्णित होने से उदात्तालङ्कार है।

एकावली

जहाँ पूर्व–पूर्व वर्णित वस्तु के प्रति उत्तर वर्णित वस्तु विशेषण (प्रवृत्तिमुखेन या निषेधमुखेन) के रूप में रखी जाए या हटायी जाए वहाँ एकावली होता है—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा।।[2]

उदाहरणार्थ कुसुमाञ्जलि का एक पद्य—

संसारेऽस्मिन्नसारे परमिह कुशलं कर्म धर्मप्रधानं,
धर्मः शर्मप्रदोऽपि प्रभवति सुधियां सिद्धये शुद्धिहेतोः।
शुद्धौ बद्धस्पृहाणां न भवति कृतिनां यद्विनाऽऽपद्विनाश–
स्त्रैलोक्याप्यायकं तज्जलमपि भगवन् विभ्रमस्ते नमस्ते।।[3]

यहाँ पर सर्वप्रथम धर्म के विशेषण रूप में कर्म को रखा गया है। पुनः कर्म को उत्पन्न करने वाला बाह्य तथा आन्तर की शुद्धता को माना गया है तथा इस शुद्धता को जलजनित एवं उस जल को तीनों लोकों को पवित्र करने वाला और अन्त में उस पवित्र जल को शिव की मूर्ति कहा गया है। इस प्रकार यहाँ एकावली अलङ्कार का प्रसङ्ग है।

तद्गुण

जब न्यून गुण वाली वस्तु उत्कृष्ट गुण वाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वरूप या गुण को छोड़ कर अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त होजाती है तब तद्गुण अलङ्कार होता है—

स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वल गुणस्य यत्।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः।।[4]

कुसुमाञ्जलि में तद्गुण का उदाहरण—

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/40
2. काव्यप्रकाश, 10/151
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/31
4. काव्यप्रकाश, 10/164

काव्यं विभाव्य निजमर्धनिमीलितानि,
नैसर्गिकं जहति चापलमीक्षणानि।
गृह्णन्ति तन्मसृणतां सहजां विहाय,
भूवल्लयस्तु कृतिनां कविपुङ्गवानाम्।।[1]

अर्थात् पुण्यात्माओं के नेत्र भगवच्चरित्र का स्मरण कर निमीलित हो जाते हैं तथा अपनी चंचलता छोड़ देते हैं, इसी प्रकार भृकुटियाँ अपनी स्थिरता छोड़कर नेत्रों की चंचलता ले लेती हैं। इस प्रकार यहाँ भृकुटियों द्वारा नेत्रों की चंचलता ग्रहण करने से तद्गुण अलङ्कार है।

इस प्रकार काव्यप्रकाश के अलङ्कार प्रकरण के आधार पर कुसुमाञ्जलि के प्रसिद्ध अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसके अतिरिक्त इसमें—उल्लेख, कारणमाला आदि अलङ्कारों को भी व्याख्यायित किया जा सकता है, पर निबन्ध विस्तार के भय से तथा उन अलङ्कारों के प्रसिद्ध नहीं होने से उनका यहाँ विवेचन नहीं किया गया।

गुण एवं रीति विवेचन

गुण काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है। आचार्य दण्डी गुण और दोष का विवेचन करना पाण्डित्य की परम कसौटी मानते हैं—गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।[2]

वस्तुतः काव्य में रसोपयुक्त शब्दों के सन्निवेश से सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। श्रीभरत मुनि गुणों का अभावात्मक लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—अत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।।[3]

दण्डी गुण को काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व मानते हैं—उत्कर्षवान् गुणः कश्चित्।।[4]

वामनाचार्य की दृष्टि में गुण से तात्पर्य शब्द और अर्थ के उन धर्मों से है जो काव्य शोभा के निर्णायक हैं—काव्यशोभयाः कर्तारो धर्माः गुणाः।[5]

आनन्दवर्धन ने काव्य के अङ्गीरस का अवलम्बन करने वाले तत्त्व को गुण कहा है—तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।।[6]

भोजराज ने अलङ्कारों की अपेक्षा गुण को काव्य का आवश्यक तत्त्व बतलाते हुए काव्य शोभा में प्राण भरने वाले धर्म को गुण कहा है। इनका कहना है कि सालङ्कार काव्य गुण विरहित होने पर अकाव्य है—

अलङ्कृतमपि काव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालङ्कारयोगतः।।[7]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/14
2. काव्यादर्श, पृ. 5
3. नाट्यशास्त्र, पृ. 211
4. काव्यादर्श, पृ. 41
5. काव्यसूत्र, पृ. 113
6. ध्वन्यालोक, पृ. 104
7. सरस्वती कण्ठाभरणम्, पृ. 49

मम्मटाचार्य ने काव्य के अङ्गीरस में रहने वाला तथा उसके उत्कर्ष के कारण रूप अविचल स्थिति वाले तत्त्वों को गुण लक्षण से लक्षित किया है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥[1]

आचार्य मम्मट द्वारा कथित गुण की परिभाषा अधिकांशतः आनन्दवर्धन के गुण लक्षण का अनुगामी प्रतीत होता है। रस में गुणों की सत्ता के सम्बन्ध में सर्वप्रथम प्रकाश आनन्दवर्धन ने ही दिया। उनके पूर्व के प्रायः सभी आचार्य शब्द और अर्थ में गुण की सत्ता के पक्षपांती थे। जहाँ तक काव्य शोभा की वृद्धि का प्रश्न है, उसमें सभी आचार्य एकमत हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों के गुण परिचय से ज्ञात होता है कि ये गुण को काव्य का आवश्यक अंग मानते तथा गुणों से काव्य का सुशोभित होना भी स्वीकार करते थे। परन्तु उनका आश्रय शब्द है या अर्थ अथवा रस—इसमें वे एकमत नहीं। जहाँ अलङ्कार और रीति प्रस्थान के आचार्यों ने शब्द और अर्थ को ही गुण का आश्रय माना, वहीं ध्वनि प्रस्थान के आचार्यों ने रस को गुण का आश्रय माना।

इस वैमत्य का एकमात्र कारण यह है कि शब्दार्थवादी आचार्यों ने काव्य के बाह्य पक्ष को अधिक महत्त्व दिया एवं रसवादी आचार्यों ने काव्य के अन्तःपक्ष को। ध्वनिवादी आचार्यों ने गूढ़ निरीक्षण के उपरान्त ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा की एवं उसकी शोभा वृद्धि में गुणों का उपयोग बतलाते हुए रस को उनका आश्रय माना।

अतः यह स्पष्ट है कि गुणाश्रय के रूप में रस का स्पष्ट उल्लेख ध्वनि प्रस्थान के परमाचार्य श्रीमम्मट ने ही किया। इनकी दृष्टि में रस और गुण में नित्य सम्बन्ध है। इसीलिए इन्होंने दृष्टान्त के रूप में **'शौर्यादय इवात्मनः'**[2] कहा। मम्मट ने **'उत्कर्षहेतवः'** से रस दोषों एवं **अचलस्थितयः** विशेषण से गुण को अलङ्कारों से सर्वथा पृथक् रखा।

गुणालङ्कार भेद

उद्भट ने गुण और अलङ्कार में भेद नहीं माना है। यद्यपि इसका उल्लेख 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में नहीं है किन्तु काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार झलकीकर वामन ने **'भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेनोक्तम्'** वाक्य से उद्भट विरचित 'विवरण' जो सम्प्रति अनुलब्ध है, में लिखा है, ऐसा कहा है।[3] आनन्दवर्धन गुणों को रसाश्रित एवं अलङ्कारों को अंगाश्रित मानकर भेद स्वीकार किए हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत्॥[4]

---

1. काव्यप्रकाश, पृ.311
2. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ. 112
3. काव्यप्रकाश, बा.बो;, पृ. 470
4. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत 9

मम्मट के अनुसार गुणों की अचल स्थिति एवं अलङ्कारों की चल स्थिति है। गुण रस के आश्रित होने से रसोपस्कारक हैं एवं अलङ्कार अङ्गाश्रित होने से परम्परया उपस्कारक हैं। गुण रस में समवाय सम्बन्ध से आत्मा में शौर्यादि की तरह एवं अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से आभूषणादि की तरह मुख्य रस को उपस्कृत करते हैं।[1]

गुणों की संख्या

श्रीभरतमुनि गुणों की संख्या दश मानते हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिमाधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते।।[2]

भामह माधुर्य ओज और प्रसाद तीन गुणों को मानते हैं—

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः।
समस्यन्ति बहून्यपि...केचिदोजोभिधित्सन्तः।।[3]

आचार्य मम्मट ने भी गुणों की तीन संख्या मानी है, जो सयुक्तिक एवं संक्षिप्त है। ये इन्हीं माधुर्य ओज और प्रसाद गुणों के अन्दर उपर्युक्त दश गुणों का अन्तर्भाव मानते हैं—

माधुर्य्यौजः प्रसादाख्याः त्रयस्तेन पुनर्दश।।[4]

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ये गुण संख्या निर्धारण के सम्बन्ध में भामह के अनुगामी हैं। इसके साथ–साथ आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के त्रितयवाद का भी प्रभाव है—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम्।।[5]

श्रीजगद्धरभट्ट की गुणविषयक दृष्टि

श्रीसदाशिव के अलौकिक ऐश्वर्यों का गान करते हुए महाकवि ने सामान्यरूपेण काव्य शास्त्रीय तत्त्वों की ओर इशारा किया है। इनकी दृष्टि में काव्य की मर्यादा गुणों की सत्ता में ही है। एक स्थल पर सत्कवियों के काव्य की प्रशंसा करते हुए इन्होंने 'गुणोम्भितानि'[6] पद का प्रयोग किया है। इसी तरह पञ्चमस्तोत्र में 'याता गुणैरुप च यं विमला प्रकृत्या'[7] पद से प्रतीत होता है कि कवि का गुणों के प्रति विशेष आकर्षण है।

---

1. काव्यप्रकाश, 8/11
2. नाट्यशास्त्र, पृ. 211
3. काव्यालङ्कार, पृ. 29
4. काव्यप्रकाश, 8/12
5. ध्वन्यालोक, 2/14
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/3
7. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/12

गुणों की संख्या के सम्बन्ध में इन्होंने स्पष्टतया मम्मट प्रतिपादित माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को स्वीकार किया है। कवि का काव्य कैसा होना चाहिए, इस सम्बन्ध में ये कहते हैं—ओजस्वी मधुरः प्रसादविशदः।[1]

अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण से विशद काव्य ही कवि कीर्ति को बढ़ा सकता है। इस प्रकार मम्मट प्रतिपादित गुण भेदों का महाकवि के द्वारा भी समर्थन प्राप्त होने से उन्हीं तीनों—माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के आधार पर स्तुतिकुसुमाञ्जलि का गुण विषयक समीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

माधुर्य गुण

माधुर्य गुण आह्लादक होता है। इससे चित्त द्रवीभूत हो जाता है। इसमें श्रुतिकटु आदि कर्कश अक्षरों एवं शब्दों का प्रयोग नहीं होता। इस गुण की अभिव्यंजकता वर्ण, वृत्ति और रचना में स्वीकार की गई है। वर्णों में टवर्ग को छोड़कर कवर्ग से पवर्ग तक के स्पर्शों का प्रयोग किया जा सकता है। लघु, रेफ और णकार का प्रयोग भी माधुर्य के लिए उपयोगी है। वृत्ति में समासाभाव या अल्पसमास वाले संयुक्ताक्षरों से रहित पद उपयुक्त होते हैं।[2]

माधुर्य के तारतम्य के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन ने सम्भोग शृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ में और उसकी अपेक्षा करुण रस में अधिकता बतलायी है—

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।।[3]

किन्तु मम्मट सम्भोग की अपेक्षा करुण में, उसकी अपेक्षा विप्रलम्भ में और तब फिर शान्त रस में माधुर्य रस का उत्तरोत्तर अतिशय स्वीकार किये हैं—

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।।[4]

इस प्रकार सम्भोग, शृङ्गार को मधुर, करुण को मधुरतर, विप्रलम्भ को मधुरतम और शान्त को अतिमधुरतम रस कहा जा सकता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि भक्तिरस प्रधान रचना है। इसमें माधुर्य गुण का सन्निवेश अधिकांशतः दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए कुछ स्थल अवलोकनीय हैं—

मरालमाला सरसीव निर्मले
कुचस्थलं हारलवेव सुभ्रुवाम्।
इयं भवत्वाभरणं महेश्वर-
स्तवावली वक्त्रसरोरुहे सताम्।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/31
2. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास
3. ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत
4. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/5

इस पद्य में अधिकांशत: लघु वर्णों की योजना है। संयुक्ताक्षरों से रहित स्पर्श वर्णों का समुचित प्रयोग माधुर्य गुण की अभिव्यक्ति करा रहा है। इसी प्रकार एक और पक्ष भी देखा जा सकता है, जिसमें लघु वर्णों की संयोजना है—

यदि विभा दिवि भाति न तावकी
यदि न मे दिनमेति भवन्मयम्।
बत महादमहारी तम: कथं
विषमदोषमदो विनिवर्तते।।[1]

इस पद्य में शान्त रस की प्रतीति हो रही है, जिसे असंयुक्त लघु वर्णों से उत्पन्न माधुर्य गुण सम्प्रेषित कर रहा है। भक्त कवि अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ प्रभु के श्रीचरणों की प्रशंसा करता है—

एकस्त्वमेव भविनामनिमित्त बन्धु–
र्नैसर्गिकी तव कृपा सवितु: प्रभेव।
वाम: पुनर्मम विधि: परिदेवितानि,
जातान्यरण्यरुदितेन समानि यस्य।।[2]

यहाँ पर स्पर्श वर्णों की प्रधानता है। छोटे–छोटे शब्द स्वतन्त्र रूप से अपने भावों की अभिव्यक्ति करा रहे हैं। एक पद्य में कवि ने विशेषकर लघु 'र'कार एवं णकार का प्रयोग किया है, जिससे पद्य में सरसता एवं पाठक की पढ़ने की प्रवृत्ति जीवित हो उठती है—

स्फारेण सौरभभरेण किमेणनाभे:
तद्घानसारमपि सारमसारमेव।
स्रक्सौमनस्यपि न पुष्यति सौमनस्यं
प्रस्यन्दते यदि मधुद्रवमुक्ति देवी।।[3]

अल्प समास वाले स्थलों में भी मधुर वर्णों का सन्निवेश सहज में अर्थ को हृदयंगम करा देता है—

अनलसम्भृतकान्तिदधत्सदा,
रुचिरमारचितास्पदमीक्षणम्।
सुमतये विधुरोपकृतिप्रियो
भवतु वो भगवान् भगवानिव।।[4]

एक स्थल पर तो प्राय: सभी शब्द समस्त ही हैं, फिर भी माधुर्य गुण की प्रतीति हो रही है, देखिए—

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 27/23
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/71
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/19
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 29/29

भवसम्भवसंहतमोहतमो–
दमनेदमनेकमशङ्कमशम्।
सविकासविकारचितं रचितं
हर मे हर मेदुरितं दुरितम्।।[1]

कवि की रचना में पदे–पदे माधुर्य गुण की पुट है। दीर्घ समस्त पदों एवं लम्बे छन्दों में भी माधुर्योत्पादक अक्षरों के गुम्फन हैं।

आनीता चरणान्तिकप्रणयितां कामेन का मेनका
कार्यं किं घनभोगसंभृतविधौ सारम्भया रम्भया।
कान्ता मे परमेश्वरे हतविपत्संभावनाभावना
चित्ते कापि रतिर्ययाहितहितव्रातायते तायते।।[2]

इस तरह स्तुतिकुसुमाञ्जलि में पदे–पदे माधुर्य की छटा है।

ओजोगुण

ओजस् गुण प्रधान रचना के पढ़ने से चित्त में विस्फुरण एवं उत्साह जागृत होता है। इसका लक्षण विश्वनाथ ने यों किया है—

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ।।[3]

जिस पक्ष में प्रथम से द्वितीय अक्षर संयुक्त हों एवं तृतीय से चतुर्थ, इसी प्रकार रेफ से संयुक्त हो और तुल्य वर्णों की भी संयुक्तता हो वहाँ ओजो गुण की प्रतीति होती है। टकारादि और 'श', 'ष' का प्रयोग दीर्घ समास एवं विकट बंध में ओजोगुण विशेषरूपेण होता है।

इसकी स्थिति रौद्र की अपेक्षा वीर में और उसकी अपेक्षा अद्भुत रस में अधिक होती है।[4]

अभिनवगुप्त भी इस प्रसंग में 'आदि शब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्'[5] वाक्य द्वारा ओजो गुण की अद्भुत रस में पूर्णता मानते हैं। आचार्य मम्मट ने इसके सम्बन्ध में जिस तारतम्य का बोध कराया है उनके अनुसार वीर की अपेक्षा बीभत्स और उसकी अपेक्षा रौद्र रस में क्रमशः उत्कर्ष पाया जाता है—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।।[6]

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/40
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 28/12
3. साहित्य दर्पण, 8/4–5
4. ध्वन्यालोक, पृ. 207
5. ध्वन्यालोक, लोचन, पृ. 202
6. काव्य प्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ. 340

हराष्टकस्तोत्र में कवि श्रीसदाशिव के पूर्व वृत्तों का गान करते हुए कहता है—शरणागतों के विष रूपी अग्नि की ज्वाला से तीव्र फणों वाले अति भयंकर यमराज के पाशों से मुक्त करने वाले, करुणारूपी अमृत के प्रवाह से आर्द्रचेता शरणागतोद्धारक श्रीशङ्कर की जय हो।'

जयत्यविरलोच्छलद्गरलवह्निहेतिच्छटा-
सटालफणभीषणक्षपणपाशमोक्षक्षमः।
उदारकरुणारसप्रसरसारसिक्ताशयः,
प्रपन्नविपदर्णवोत्तरणकर्णधारो हरः।।[1]

यहाँ पर दीर्घ समस्त पदों, टकार एवं कर्कश अक्षरों के प्रयोग से ओजो गुण है।

'अग्र्यवर्णस्तोत्र' में शिव के विविध रूपों की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है—

सर्पत्कन्दर्पदर्पज्वरभरहरणव्यग्रवर्चः प्रपञ्च-
प्रत्यग्रब्रघ्नचन्द्रज्वलदनलवलत्पक्ष्मलत्र्यक्षवक्त्रः।
शर्वस्तर्षप्रकर्षश्रमशमनमनस्तर्पणस्वर्णवर्ष-
स्वस्थं तन्वन्सहर्षं जनमनघमघः कल्पयत्वक्षयं वः।।[2]

यहाँ पर ओजो गुण है। शिव के ताण्डव नृत्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

भिन्द्धि क्ष्माधरसन्धिबन्धमुदधेरम्भोधरं जृम्भय
क्षुन्द्धिक्ष्मापटलं दलत्फणिफणा पीठीलुठत्सौष्ठवम्।
पिण्ड्रिढ प्रौढचपेटपाटितरटत् ताराकुटुम्बं नभः,
प्रारब्धोद्धतसान्ध्यताण्डव इति श्रीभैरवः पातु वः।।[3]

इस पद्य में दीर्घ समस्त पद–भिन्द्धि क्ष्माधर, क्षुन्धिद पिण्ड्रिढ आदि शब्द ओजो गुण प्रस्तुत करते हुए अद्भुत रस की प्रतीति करा रहे हैं।

इसी प्रकार काव्य के अन्य स्थलों में भी इसकी छटा देखी जा सकती है। बाइसवें स्तोत्र के अन्तिम पद्य कल्लोलिनी...करोतु[4] में कर्कश एवं क्लिष्ट पदों तथा समस्त पदों के प्रयोग से ओजो गुण की स्थिति बन रही है। तेइसवें स्तोत्र के प्रायः सभी पद्यों में ओजो गुण विद्यमान है। कवि ने समासान्त पदों में संयुक्ताक्षरों, मूर्धन्य ध्वनियों एवं गाढबंध की सम्यक् रूपेण योजना की है।

प्रसाद गुण

प्रसाद का अर्थ है—प्रसन्नता। अर्थात् पद्य में सरल एवं सुस्पष्ट शब्दों के प्रयोग से झटिति अर्थबोध हो जाना ही प्रसाद गुण की पहचान है। यह सभी रसों के लिए उचित है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 6/4
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 34/1
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/54
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/37

आचार्य मम्मट कहते हैं—जैसे अग्नि सूखे ईंधन को शीघ्र ही जला देती है, स्वच्छ जल में रखी वस्तुएँ जैसे स्पष्ट दीखती हैं, उसी प्रकार प्रसादगुण प्रधान रचना अतीव सरलता से अर्थों को समर्पित कर देती है—

> शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः
> व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।[1]

साहित्यदर्पण में भी इसी बात की पुष्टि है—

> चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः
> स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
> शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधका श्रुतिमात्रतः।।[2]

कुसुमाञ्जलि में प्रसाद गुण प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। एक स्थल पर कवि शिव के ऐश्वर्य का गान करता हुआ कहता है—

> यस्यापगा स्रगिव सौमनसी जटासु,
> यः कौमुदीं विरचनामिव मूर्ध्नि धत्ते।
> देवीं वराभयकरामपि यो बिभर्ति
> प्रीतः शिवां दृशमिव प्रभुमाश्रये तम्।।[3]

यहाँ पर अर्थबोध के लिए आयास नहीं करना पड़ता। पद्य में प्रयुक्त प्रसन्न शब्द स्वयं ही पदार्थ समर्पित कर रहे हैं।

'दीनाक्रन्दनस्तोत्र' में कवि अपने आराध्य श्रीशिव को उपालम्भ देता है। उपालम्भ की प्रक्रिया एवं शब्दों का विन्यास इतना स्वाभाविक है कि पद्य पढ़ते ही अर्थ का ज्ञान हो जाता है—

> अज्ञोऽसि किं किमबलोऽसि किमाकुलोऽसि,
> व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि।
> निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि
> क्रन्दन्तमकभयान्तर्तमुपेक्षसे यत्।।[4]

यहाँ पर प्रसाद गुण की स्पष्टरूपेण प्रतीति हो रही है।

स्तोत्र-काव्य का उपसंहार करते हुए कवि अपने काव्य की सार्थकता की ओर संकेत करता है—

> इयं मधुश्रीरिव केलिकाननं,
> सरोवरं प्रावृडिव शतपक्षतम्।

---

1. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, पृ. 341
2. साहित्य दर्पण, 8/7-8
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/37
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/103

स्तवावली काव्यकुतूहलं सता–
मकाल–जीर्णं तरुणी करिष्यति।।[1]

यहाँ सन्धि और समास से विरहित पद्य शीघ्र ही अर्थावबोध में सहायक हो रहे हैं। इसी प्रकार—

अनाथानां नाथो गतिरगतिकानां व्यसनिनां
विनेता भीतानां शरणमधृतीनां भरवशः
सुहृद्बन्धुः स्वामी शरणमुपकारी वरगुरुः
पिता माता भ्राता त्रिजगति जयत्यन्तकरिपुः।।[2]

इस पद्य में कवि ने शब्द वक्रोक्ति या किसी गूढ व्यंग्य का प्रयोग न कर सीधी भाषा में शिव की स्तुति की है। अर्थ की प्रतीति अनायास होने से यहाँ प्रसाद गुण की स्थिति है।

इस प्रकार सम्पूर्ण स्तुति काव्य में कवि ने रसोपयुक्त गुणों का उपनिवेश किया है। भक्ति स्तोत्र में भी इन्होंने माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण के सन्निवेश में सर्वत्र सफलता प्राप्त की है। किन्तु ओज की अपेक्षा माधुर्य और प्रसाद गुण का पूर्णतः प्रयोग है।

रीति विवेचन

साहित्य जगत् में अलङ्कार प्रस्थान के बाद रीति प्रस्थान का उदय हुआ। सम्भवतः काव्यात्मान्वेषण का प्रथम पुरुषार्थ वामन ने ही किया—

रीतिरात्मा तु काव्यस्य
विशिष्टा पदरचना रीतिः।[3]

कुन्तक के अनुसार काव्य रचना की विधि ही 'मार्ग' है जो सुकुमार, विचित्र और मध्य भेद से तीन प्रकार का है—

सम्प्रति यत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः।।[4]

आचार्य मम्मट ने वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली—इन वृत्तियों को उपनागरिका, परुषा और कोमला शब्द से व्यवहृत किया है—

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः।।
केषाचिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/19
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/1
3. काव्यसूत्र 1/26
4. वक्रोक्तिजीवितम्, 1/24
5. काव्यप्रकाश, 9/81, 82

कविराज विश्वनाथ पदसंघटना को रीति कहते हैं। इन्होंने इसे रसों का उपस्कारक माना है—

तस्माच्चतुर्विधो वैदर्भी।[1]

किन्तु लाटिका के वैदर्भी और पांचाली में ही गतार्थ हो जाने से मुख्य रूपेण वैदर्भी, गौडी और पांचाली—तीन वृत्तियाँ हैं। इन्हीं के आधार पर कुसुमाञ्जलि का रीति विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। श्रीजगद्धरभट्ट भी रीति से युक्त रचना को उत्कृष्ट मानते हैं—

रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला।[2]

वैदर्भी रीति

माधुर्य गुण की अभिव्यंजना कराने वाले शब्दों के जहाँ सुन्दर प्रयोग होते हैं, वहाँ वैदर्भी रीति होती है। इसमें समस्त पदों एवं असमस्त पदों में श्रुति कटु आदि दोषों का नहीं होना चाहिए—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरीष्यते।।[3]

माधुर्य गुण की भाँति यह भी शृङ्गार भक्ति या शान्त रसों में मिलती है।

कुसुमाञ्जलि के 'हरिहरस्तोत्र' के एक पद्य में वैदर्भी रीति की झांकी आंकी जा सकती है—

यस्मिन् गुणी सहृदयः सफलः समूलः
स्वातन्त्र्यधामनिकरात् पतितः स पद्म।
कम्बुस्थितस्तु धृततद्विपरीतरीति-
स्तन्मङ्गलं दिशतु हारिहरं वपुर्वः।।[4]

इसमें असमस्त पदों एवं टवर्गादि से रहित स्पर्श वर्णों के प्रयोग से माधुर्य की अभिव्यक्ति हो रही है, अतः यहाँ वैदर्भी रीति है।

सांसारिक विषयों से विरक्त कवि भक्ति के प्रवाह में मनोविनोद करता हुआ अपनी शान्ति के लिए लक्ष्मी देवी और क्षमा देवी को अनुपयुक्त बतलाता है एवं अपनी भगवत्स्तुति परायणा भारती को भवार्तिभंग के लिए उपयुक्त मानता है—

रमापि देवी मम नो मनोरमा,
क्षमापि मामभ्यवपत्तुमक्षमा।
मम क्षमैका भगवत्परा पुन-
र्भवार्तिभङ्गे सरसा सरस्वती।।[5]

---

1. साहित्यदर्पण, 9/2
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/3
3. साहित्यदर्पण, 9/2-3
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 4/7
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/15

यहाँ पर असंयुक्त एवं असमस्त छोटे-छोटे मधुर शब्द वैदर्भी रीति की प्रतीति करा रहे हैं।

कृपणाक्रन्दनस्तोत्र में कवि अपनी दीनता का वर्णन करते हुए कहता है कि प्रभो! मेरे द्वारा आपकी जो स्तुति की जा रही है वह सूर्य को दीपक दिखाने की तरह और समुद्र को ओस की बूंदों से भरने की तरह है—

> दीपोत्करै रविरुचां परिपूरणेयं,
> नीहारवारिभिरिदं भरणं पयोधेः।
> अस्मादृशां मितदृशां नियतैर्वचोभिः
> प्रस्तूयते भव तव स्तवचापलं यत्।।[1]

यहाँ पर भी वैदर्भी रीति की छटा है। इसी तरह अन्य स्थलों में भी देखा जा सकता है।

गौडीरीति

जहाँ ओजो गुण की अभिव्यंजना करने वाले वर्णों की प्रधानता हो तथा गकार, शकार, टवर्ग आदि का बाहुल्य हो एवं समस्त शब्द हों वहाँ गौडी रीति मानी जाती है। वीर, बीभत्स आदि रसों के लिए इसे उपयुक्त माना जाता है। श्री विश्वनाथ ने लिखा है—

> ओजः प्रकाशकैर्वर्णैः बन्ध आडम्बरः पुनः।
> समासबहुला गौडी...।।[2]

कुसुमाञ्जलि के नतमस्तक स्तोत्र में कवि श्रीसदाशिव के प्रति नमोभाव समर्पित करता हुआ इनके ऐश्वर्य का वर्णन करता है—

> नमो वाङ्मनसातीतमहिम्ने परमेष्ठिने।
> त्रिगुणाष्टगुणानन्तगुणनिर्गुणमूर्तये।।[3]

यहाँ पर समस्त पद एवं टकारादि वर्णों का प्रयोग गौड़ी रीति के निदर्शन हैं।

एक स्थल पर कवि कहता है कि जो मैं अत्यन्त भीरु हृदय होकर भी श्मशानवासी, अग्नि से दीपित नेत्रों वाले, विष की विषम ज्वाला से युक्त, वासुकी को कंगन बनाने वाले महाभीम महेश्वर का आश्रय ले रहा हूँ सो मैं विद्वानों का आदर पात्र हूँ—

> श्मशानैकस्थानव्यसनमनलोत्तालनयनं,
> विषज्योतिर्ज्वालाजटिलकुटिलव्यालवलयम्।
> विभुं मुण्डश्रेणीविकटमुकटं भीरुहृदयः
> श्रयन् भीमं धीमानहमहसनीयः कृतधियाम्।।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/1
2. साहित्यदर्पण, 1/3-4
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/12
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/124

यहाँ पर समस्त पदों द्वारा विकट बंध तथा पदे-पदे संयुक्त अक्षरों की उपस्थिति होने से गौडी रीति है। इसी तरह गौडी रीति का एक और उदाहरण देखा जा सकता है—

तस्मादस्माकमाकस्मिकविकसदसत्कर्मपाकोपताप-
व्यापत्तापातुराणामविरलकरुणासिन्धुरापन्नबन्धुः।
भक्तिश्रद्धाप्रबन्धानमदमरशिरः श्रेणिमाणिक्यमाला-
ज्वालालीढाङ्घ्रिपीठः शरणमशरणत्राणशीलस्त्वमेकः।।[1]

भाव यह है कि हे प्रभो! अकस्मात् दुष्परिणामों के आ जाने से अत्यन्त व्याकुल चित्त हमारे लिए आपके अतिरिक्त कौन दूसरा है। यहाँ पर दीर्घ समस्त पद एवं संयुक्त अक्षरों के कारण गौडी रीति की छटा है।

पांचाली रीति

यह भी वैदर्भी की तरह मधुर वर्णों एवं असमस्त पदों में रहती है। यह दोनों रीतियों का मिश्रित रूप है। जिस पद्य में एकदम समासरहित शब्द हों और न समासयुक्त, अर्थात् अल्प समस्त पदों वाली रचना में पांचाली वृत्ति मानी जाती है।[2]

कुसुमाञ्जलि में पांचाली रीति का सर्वत्र दर्शन होता है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल अवलोकनीय हैं। कवि अपने आराध्य के प्रति अपनी अवस्था का उल्लेख करते हुए कहता है हे प्रभो! मेरा नीरोग शरीर, नयी अवस्था, सुसंस्कृत मति, लोगों द्वारा पूजित जाति और भक्ति द्वारा सहज में प्राप्त हो जाने वाले आप हैं, अतः मेरे करुणालाप को सुनिये—

शरीरं नीरोगं नवमपि वयः संस्कृतमती-
मतिर्वन्द्या जातिः प्रभुरपि भवान् भक्तिसुलभः।
इतीयं सामग्री सुकृतशतलभ्या विघटते,
न यावत्तावन्मे शृणु करुणमाक्रन्दितमिदम्।।[3]

यहाँ पर नातिमधुर वर्णों एवं नातिविस्तृत समास शैली के कारण पांचाली रीति मानी जा सकती है।

अर्द्धनारीश्वर स्तोत्र में कवि श्रीशिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की प्रशंसा करता हुआ प्रभु से परमानन्द रूप अमृत की प्राप्ति चाहता है—

जूटाहेर्मुकुटेन्द्रनीलरुचिभिः श्यामं दधत्यूर्ध्वगं,
भागं वह्निशिखापिशङ्गमधरं मध्ये सुधाच्छच्छविः
धत्ते शक्रधनुः श्रियं प्रतिमिता यत्रेन्दुलेखानृजु-
र्युष्माकं स पयोधरो भगवतोर्हर्षामृतं वर्षतु।।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/35
2. 'साहित्य दर्पण, 1/3-7
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/84
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/44

यहाँ पर भी न समस्त पदों द्वारा विकट बंध है और न समासाभाव ही। शब्द अर्थ को श्रोता तक समर्पित करने में नितान्त समर्थ है। अतः यहाँ भी पांचाली रीति मानी जा सकती है।

कवि भगवान् के सगुण रूपों का गुणगान करते हुए भावना के प्रवाह में बह जाता है और उस व्यापक विभु के बहुद्देशीय निर्गुण रूप की चिन्तना करने लगता है—

दिग्देशाकारकालैरकलितविभवं मन्महद्बीज भूतं
भूतग्रामस्य यस्य त्रिभुवनविषयं वस्तु जातं विवर्तः।
यस्मिन्हेम्नीव नानाकरणपरिकरो लीयते विश्वमन्ते,
तद्भिन्नेष्वप्यभिन्नं भव भवसि परं ब्रह्म तस्मै नमस्ते।।[1]

यहाँ पर भी पांचाली रीति की छटा है, क्योंकि अल्प समस्त पद एवं प्रसाद गुण सम्पन्न वर्णों के प्रयोग से पद्य में प्रवाह है और अर्थ बोध कराने की क्षमता भी।

इस प्रकार रीति के उपर्युक्त तीनों भेदों के आधार पर कुसुमाञ्जलि की रीति सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत किया गया। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गुण और रीति के प्रयोग में भी कवि की लेखनी पूर्णतः सफलता प्राप्त की है।

ध्वनि विवेचन

ध्वनि प्रस्थान के प्रसिद्ध आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य जगत्, जो अलङ्कारों के अंधकार से रीति की रात्रि में सुप्त था, को ध्वनि सूर्य का दर्शन कराया। इन्होंने वामनाचार्य से आत्मान्वेषण की प्रेरणा प्राप्त कर काव्य के आत्मतत्त्व का उद्भावन एवं प्रतिष्ठापन किया। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया—

काव्या स्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।।[2]

ध्वनि वस्तुतः अतिशय चमत्कारकारी विशेष प्रकार का अर्थ है। यह व्यंजना गम्य होता है। जब शब्द और अर्थ अपने को गौण बनाकर व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति कराते वह ध्वनि है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।[3]

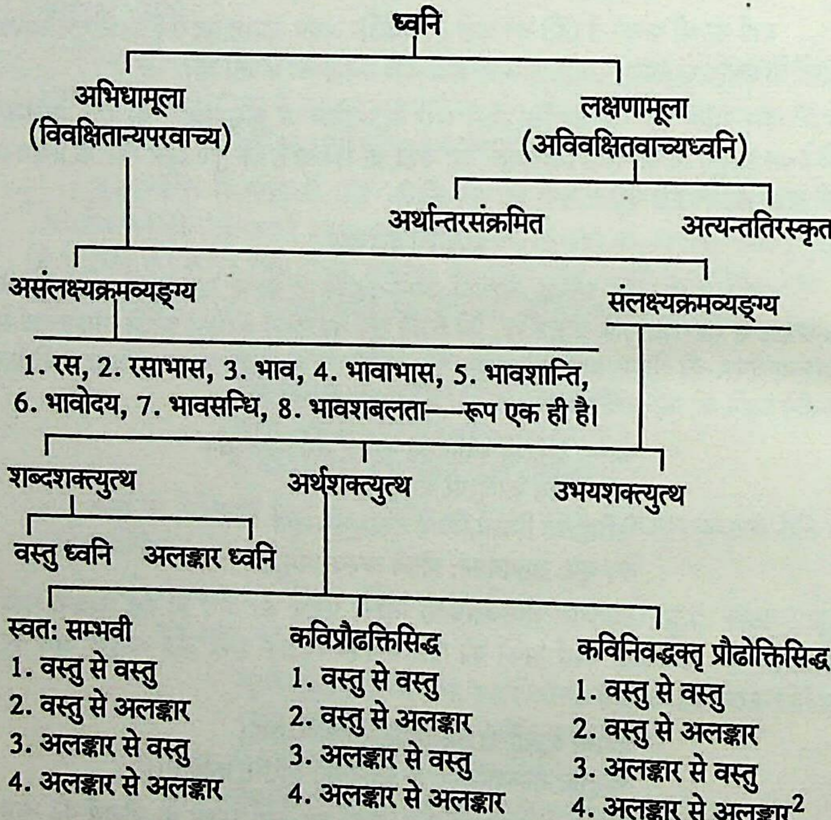
शब्दार्थ शरीर से अलग सुशोभित होने वाला यह अर्थ रमणी के सौन्दर्य की तरह भासित होता है—

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 33/44
2. ध्वन्यालोक, 1/1
3. ध्वन्यालोक, 1/12

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव,
वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं
विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[1]

साहित्य जगत् में आनन्दवर्धन ने जिस ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, उसको मम्मटाचार्य ने पल्लवित पुष्पित किया। काव्यप्रकाश में इन्होंने ध्वनि के भेदों का उल्लेख किया है और उसका पद, वाक्य और रचना आदि में अनेक भेद दिखाया है। उन मुख्य भेदों की संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है—



इस प्रकार मुख्य ध्वनि के अट्ठारह भेद किए हैं। पदादिगत अनेक भेदों की उद्भावना कर इसके इक्यावन भेद किए गए हैं, यथा—

1. ध्वन्यालोक, 1/4
2. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, रसप्रकरण के आधार पर

उभयशक्त्युत्थ	—	1 भेद
पदगत और वाक्यगत होने से शेष	—	17×17=34
अर्थशक्त्युत्थ प्रबन्धगत	—	12

इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के 1+34=35+12=47 भेद हैं तथा असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य वर्ण, पदांश, रचना और प्रबन्धगत होने से 4 प्रकार का होता है, अत: 47+4=51 भेद ध्वनि के हैं।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अभिधामूलाध्वनि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप ध्वनि जो रस है, का विवेचन पूर्व में ही किया जा चुका है। सम्प्रति काव्य का मूल तत्त्व ध्वनि का आधार लेकर कुसुमाञ्जलि की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत है।

लक्षणामूला ध्वनि

अभिधा वृत्ति द्वारा बोधित होने वाले मुख्यार्थ के बाधित होने पर लक्षणा द्वारा पद का अर्थ बोधन होता है। यह लक्षणा शब्दार्थ को दो प्रकार से प्रकट करती है। कहीं मुख्यार्थ से सम्बन्धित अर्थान्तर के रूप में और कहीं मुख्य अर्थ से भिन्नार्थ बोधन के रूप में। इस प्रकार इसके अर्थान्तरसंक्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत दो भेद होते हैं।

अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि

जिस पद्य में शब्द अपने अभिधेय अर्थ को छोड़कर तत्सम्बन्धित अपर अर्थ को स्वीकार कर वाक्यार्थ बोध कराता है और उससे जो प्रयोजन रूप ध्वन्यमान अर्थ की प्रतीति होती है, अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसके अनेक उदाहरण हो सकते हैं—

अङ्गं भुजङ्गरचिताङ्गदभङ्गितुङ्गं,
त्वङ्गत्तरङ्गगगनाङ्गनसङ्गिगङ्गम्।
बिभ्रद्विभुर्विहितरङ्गदनङ्गभङ्ग-
मङ्गीकरोत्वरमभङ्गुरमिङ्गितं व:।।[1]

भाव यह है कि शेषानाग प्रभृति सर्पों को केयूर के रूप में धारण किए हुए, उन्नत भुजाओं तथा गङ्गा की लोल तरंगों से युक्त, आकाशगंगा से विराजमान, विशाल मस्तक वाले, कामदेव के भस्मकर्ता, शिव आप लोगों की समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण करें।

यहाँ पर 'शिव अभिलाषाओं को पूर्ण करें' इसके लिए 'अङ्गीकरोतु' क्रिया का प्रयोग है जिसका अभिधेय अर्थ होगा—अंगीकार करना। किन्तु भक्त अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है। अत: यहाँ पर अंगीकार करना अर्थ वाक्यार्थ बोध के लिए पूर्ण नहीं जितना कि 'पूर्ण करें' है, जो 'अंगीकार करें' अर्थ से सम्बन्धित ही है। अत: यहाँ लक्षणामूलक अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि का उदाहरण माना जा सकता है।

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/8

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि[1]

मुख्यार्थ के बाधित होने पर लक्ष्यार्थ अभिधेय अर्थ से एकदम विपरीत अर्थ वाला हो और उससे व्यंजनाबोध्य प्रयोजनात्मक ध्वनि की प्रतीति हो रही हो, उसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि कहते हैं।

श्रीजगद्धरभट्ट ने ऐसे शब्दों का अनेकत्र प्रयोग किया है। एक स्थल अवलोकनीय है—

तज्ज्ञो बताम्यभिलषन्सुखमक्षयं यद्–
दुःखैकधामवपुरस्थिरमर्थयामि।
यद्वा भवाब्धतरणाय पुराणमुग्र–
शीलं प्रभां समुडुपार्धधरं श्रयामि।।[2]

भाव यह है कि मैं बड़ा ही बुद्धिमान हूँ जो उस अखण्ड सुख की अभिलाषा की पूर्ति के लिए बहुत दुःखमय अस्थिर मनुष्य की देह मांग रहा हूँ अथवा इस अपार भवसागर को पार करने के लिए उग्रशील उडुपार्धधर शिव का आश्रय ले रहा हूँ।

किन्तु यहाँ पर यह स्मरणीय है कि अखण्ड सुख के लिए क्षण भंगुर शरीर की याचना करना बुद्धिमानी नहीं अपितु मूर्खता है। इस प्रसंग में 'तज्ज्ञः' पद बुद्धिमान् के अर्थ में बाधित हो जाता, क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति शाश्वत सुख के लिए नश्वर शरीर की याचना नहीं करता, अतः मुख्यार्थ बाधित है। इसलिए 'तज्ज्ञः' पद का अर्थ लक्षणा द्वारा 'मैं मूर्ख हूँ' जो नश्वर शरीर की याचना करता हूँ, यह अर्थ होना चाहिए। यहाँ पर मूर्खता की अधिकता बतलाना ही मुख्य प्रयोजन है जिसके लिए 'तज्ज्ञ' का लक्षणा द्वारा अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ लिया गया है। अतः यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है।

अभिधामूला ध्वनि

मुख्य अर्थ के प्रकरणादि के कारण प्रकृत प्रसंग में नियन्त्रित हो जाने पर अपर अर्थ की प्रतीति व्यंजना वृत्ति द्वारा होती है जिसे अभिधामूला ध्वनि कहते हैं।[3] यह 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' और 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' भेद से दो प्रकार का होता है।

'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' की कोटि में रस, रसाभास, भाव–भावाभास आदि आते हैं, जिनका विवेचन मैंने रसप्रसंङ्ग में प्रस्तुत किया है। भाव ध्वनि, जिसे आचार्यों ने देवता विषयक रति को माना, उसे भी मैंने रस प्रकरण में ही भाव नाम न देकर भक्ति रस के रूप में व्याख्यायित किया है।

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ का क्रम स्पष्टतया लक्षित हो जाए अर्थात् अभिधेय और व्यङ्ग्यार्थ का बोध जहाँ क्रमशः होता है, उसे संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं। यह शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ एवं उभयशक्त्युत्थ भेद से तीन प्रकार का होता है।[4]

---

1. काव्यप्रकाश, 4 उल्लास
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 29/7
3. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास
4. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास

शब्दशक्त्युत्थ

एक स्थल पर कवि शिव के ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए कहता है कि ललाट पर चन्द्रकला से सुशोभित विशाल भुजाओं वाले वृषभवाहन अविनाशी शिव आपके वैभव का विस्तार करें—

> द्विजाधिपाधिष्ठितशेखरं महा–
> भुजंगविन्यस्तभरं समुद्वहन्।
> वपुः सदाभङ्गदयासमाश्रितं
> तनोतु वः सम्पदमच्युतः शिवः।।[1]

यहाँ पर वाच्य रूप में शिव की महिमा का वर्णन किया गया है। किन्तु जब अच्युत का अर्थ विष्णु किया जाता है तब सभी पद विष्णुपरक अर्थ को प्रकट करने लगते हैं। इस तरह इसका एक विष्णुपक्षीय अर्थ भी द्योतित होने लगता है।

इससे यह ध्वनित होता है कि शिव ही सर्वशक्तिमान् है। इस स्थान पर शिव के वर्णन में प्रत्यक्ष रूप से विष्णु का अर्थ भी गृहीत हो रहा है। अतः यहाँ शब्दशक्त्युत्थ वस्तु से वस्तु की प्रतीति हो रही है।

शब्द शक्त्युत्थ अलङ्कार ध्वनि के उदाहरण के रूप में स्तुतिकुसुमाञ्जलि का निम्न पद्य देखा जा सकता है—

> ह्लादवद्भिरमलैरनर्गलै–
> र्जीवनैरघहरैर्निवैरियम्।
> स्वामिनः क्लमशमक्षमैः क्षणं
> रोद्धुमर्हति मनः सरस्वती।।[2]

भाव यह है कि जिस प्रकार सरस्वती नदी अपने ह्लादकारक, निर्मल, पाप विनाशक, स्वच्छ जल से अपने सेवकों का त्रिविध ताप दूर करती है, उसी प्रकार मेरी सरस्वती आह्लादमय, निर्मल, गङ्गा तरङ्ग के समान अविच्छिन्न प्रवाह वाले तथा जीवन प्रदान करने वाले तथा क्लेशों का शमन करने वाले स्तोत्रों से मेरे स्वामी के चित्त को प्रसन्न करने में समर्थ हो।

यहाँ पर कवि ने उपमालङ्कार के माध्यम से अपनी सरस्वती को सरस्वती नदी की तरह स्वच्छ और निर्मल बतलाया है किन्तु यहाँ पर उपमा वाचक इवादि शब्दों के प्रयोग नहीं हैं। अतः यहाँ शब्दशक्तिमूलक उपमालङ्कारध्वनि माना जा सकता है। इसी तरह सरस्वती पद से नायिकात्व का भान होने से समासोक्ति अलङ्कारध्वनि भी माना जा सकता है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 29/7
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/1

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि

इस ध्वनि के भी स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध तीन भेद होते हैं।[1]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इन सभी शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि भेदों का क्रमशः उदाहरण देखा जा सकता है।

वस्तु से वस्तु ध्वनि

जहाँ पर वस्तु रूप प्राकरणिक वाच्यार्थ से अप्राकरणिक वस्तु व्यङ्ग्य की व्यंजना हो, वहाँ वस्तु से वस्तु का ध्वनित होना माना जाता है।

कवि शिव की महिमा का उल्लेख करता हुआ कहता है कि शिव के आभूषण रूप सर्पों द्वारा लेहन करने से कार्तिकेय का वाहन मयूर प्रसन्न हो जाता है। पार्वती का वाहन सिंह गणेश के शूण्ड दण्ड के घर्षण से आनन्दित हो रहा है एवं यमराज का वाहन महिष सूर्य के रथ में जुते घोड़ों की हिनहिनाहट से प्रसन्न हो रहा है। इस प्रकार के परिवार से घिरे शिव का दिव्य तेज हमें कल्याण प्रदान करे—

> स यत्र गुहबर्हिणो भवभुजङ्गजिह्वाश्चनै–
> र्गजास्यकरकर्षणैः स च गिरीन्द्रकन्याहरिः।
> स चार्कसुतसैरिभो रवितुरङ्गहेषारवै–
> र्मुदं दधति धाम तद् दिशतु शाम्भवं धाम वः।।[2]

यहाँ पर शिव के प्रभाव से विरोधी जीवों के वैर भाव के त्यागने की बात बतलायी गई है। इससे यह व्यङ्ग्य ध्वनित हो रहा है कि शिव के प्रभाव से जब पशु–पक्षी भी अपने वैर भाव को छोड़ देते हैं तो चेतन मनुष्यों का हृदय शिव के दर्शन एवं भक्ति से कितना पवित्र एवं निर्मल होगा? अतः शिव की उपासना सर्वजन करणीय है।

वस्तु से अलङ्कार ध्वनि

जहाँ वाच्यार्थ वस्तु से व्यङ्गार्थ अलङ्कार की प्रतीति हो रही हो वहाँ वस्तु से अलङ्कार ध्वनि होती है।[3] स्तुतिकुसुमाञ्जलि में एक स्थल पर कवि कहता है कि जो सूर्य प्रातःकाल होने पर अंधकारों को नष्ट कर चक्रवाकों को आनन्दित करता, वह सब उसके शिव की स्तुति करने का फल है—

> रविरहो विरहोद्धरणाद् दिशन्
> धृतिमुपैति मुदे रथपक्षिणाम्।
> यदविषादविषाभिभवं जगत्
> कृतमसन्तमसंस्तुतिभिः प्रभोः।।[4]

---

1. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/45
3. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 27/30

यहाँ पर कवि का अभिप्राय यह है कि जो सूर्य शिव की उपासना से उत्कृष्ट तेज प्राप्त कर सकता है तो हमें भी अज्ञान अंधकार से मुक्ति पाने के लिए यत्न करना चाहिए तथा इस अज्ञान अंधकार से मुक्त होकर जीव चक्रवाक को प्रसन्न करना चाहिए। इस प्रकार इसके दूसरे अर्थ में अंधकार से अज्ञान एवं चक्रवाक से जीव की प्रतीति हो रही है, अत: यहाँ वस्तु से व्यङ्ग्य रूप रूपकालङ्कार की प्रतीति होने से अर्थशक्त्युत्थ वस्तु से रूपकालङ्कार ध्वनि है।

अलङ्कार से वस्तु

जहाँ पर शब्द शक्तिमूलक अलङ्कार से वस्तु ध्वनि अभिव्यंजित हो वहाँ अलङ्कार से वस्तु ध्वनि मानी जाती है।[1]

उदाहरणार्थ कुसुमाञ्जलि का एक पद्य द्रष्टव्य है। श्रीजगद्धरभट्ट का कहना है कि शिव के सेवक अपने लोकोत्तर कार्य से किसको आश्चर्यचकित नहीं करते, जिन्हें नये–नये वैर भाव के रहते हुए भी भय और क्रोध नहीं होता—

कर्तुमुत्सहत एव सेवको
यस्य कस्य न मन: सकौतुकम्।
नैति शान्तनवविग्रहोपि सन्
भीष्मतां न च विचित्रवीर्यताम्।।[2]

यहाँ पर पूर्वार्द्ध का अर्थ करने के बाद उत्तरार्द्ध के अर्थ में विरोध की स्थिति है किन्तु उपर्युक्त अर्थ के द्वारा विरोध समाप्त होकर विरोधाभास हो जाता है, जो व्यङ्ग्य रूप है। 'शान्तनवविग्रह भीष्मतां' तथा 'विचित्रवीर्यता' आदि शब्दों के परिवृत्यसह होने के कारण शब्दशक्तिमूलकता इस अलङ्कार की आधारशिला है। किन्तु इसे 'अपि' शब्द का प्रयोग कर वाच्य सा बना दिया गया है। बाद में व्यङ्ग्यार्थ के अधिगम होने पर सेवक द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त करने में शिव की महिमा सर्वोपरि है और उस शिव की भक्ति करनी चाहिए। तब यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्राधान्येन प्रतीति होगी। इस प्रकार यहाँ शब्दशक्तिमूलकविरोधाभास अलङ्कार से वस्तु का ध्वनन हो रहा है।

अलङ्कार से अलङ्कार

जहाँ शब्दशक्तिमूलक–अलङ्कार से प्रतीयमानतया अलङ्कार की प्रतीति हो वहाँ अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि मानी जाती है।[3] शिव की अनुपम भक्ति का विवेचन करते हुए श्रीजगद्धरभट्ट कहते हैं कि ईश्वराधन स्वत: सिद्ध रसायन है। अनुपभुक्त सुख है एवं विना मंथन से ही उत्पन्न अमृत है—

इदमसाधितमेव रसायनम्
निरूपभोगमिदं सुखमक्षयम्।

---

1. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/19
3. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास

अमृतमेतदनम्बुधिमन्थनं
यदविनश्वरमीश्वरसेवनम्।।[1]

यहाँ ईश्वराराधन को सामान्य रसायन, अमृत एवं सुख की अपेक्षा अतिशायी बतलाया गया है। अत: यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है, जिससे यह ध्वनित होता है कि उपमान रसायन, सुख एवं अमृत की अपेक्षा उपमेय ईश्वराराधन की उत्कृष्टता है। अत: यहाँ शब्दशक्तिमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार से व्यङ्ग्यार्थमूलक व्यतिरेकालङ्कार की प्रतीति हो रही है।

इस प्रकार इस ध्वनि विवेचन नामक शीर्षक में अतिसंक्षेप रूप से ध्वनि को दिखाया गया। आचार्य मम्मट ने जितनी सुव्यवस्था एवं युक्ति के साथ ध्वनि के भेदोपभेदों की गणना की है, उसके आधार पर स्तुतिकुसुमाञ्जलि का पर्याप्त विश्लेषण करना चाहते हुए भी मुझे विस्तार की भीति से विरत होना पड़ रहा है। 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्रा, शरेषु युगखेन्दव:'[2] के द्वारा मम्मट ने जितने ध्वनि भेद बताये हैं, उन सभी को कुसुमाञ्जलि में देखा जा सकता है।

❑

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/6
2. काव्य प्रकाश, चतुर्थ उल्लास

पञ्चम अञ्जलि : दार्शनिकपक्ष

दृश् धातु से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर (दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्) दर्शन शब्द निष्पन्न होता है, जिससे देखा जाए, जिसे देखा जाए और जो देखे—इन तीनों का बोध दर्शन शब्द से होता है। यहाँ पर आकांक्षा होती है कि द्रष्टा कौन है? दृश्य क्या है? तथा देखने का साधन क्या है? इसी को दार्शनिक भाषा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण कहा जाता है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार जीवन का परम पुरुषार्थ मोक्ष है। माया, जगत्, ईश्वर और कर्म आदि का विवेकपूर्वक मोक्ष प्राप्ति ही प्रमेय प्राप्ति है। मोक्षाभिलाषी व्यक्ति प्रमाता है और यह प्रमाता जिन साधनों के माध्यम से उस मोक्ष तत्त्व को समझता है वही प्रमाण है। इन तत्त्वों के प्रतिपादक शास्त्र ही इसके प्रमाण हैं।

शास्त्र शब्द की निष्पत्ति दो प्रकार से होती है—शास्-आज्ञार्थक धातु से और शंस् भाषणार्थक धातु से। शास् धातु से बनें शास्त्र शब्द का विधि रूप अर्थ धर्मशास्त्र प्रतिपादित सभी कर्मों को करना और निषेधरूप अर्थ निन्दित कर्मों का परित्याग करना होता है—

शासनाद् शंसनाच्छास्त्र शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।।[1]

यह क्रियापरक होता है। शंस् धातु से बने शास्त्र शब्द का अर्थ शंसन या कथन करना है। प्रकृत में दर्शन के साथ शास्त्र शब्द का अर्थ ज्ञानशंसनपरक ही है, क्रियापरक नहीं। दर्शनशास्त्र वास्तविक रूप का प्रतिपादक होने के कारण वस्तुमूलक होता है।

साङ्ख्यदर्शन में अध्यात्मचिन्तन को अधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक त्रिविध मलों का अपहारक कहा गया है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तोप्यन्ततोऽभावात्।।[2]

दर्शनशास्त्र हमारे जीवन का वह तन्त्र है जो वास्तविक जीवन प्रदान करता है तथा जीवन के हर पहलुओं में अमृत की वर्षा करता है, जिससे प्रकृति पवित्र और आनन्दित हो जाती है।

---

1. भारतीय दर्शन — उपाध्याय, मूल आधार
2. साङ्ख्यकारिका, 1/1

पाश्चात्त्य विद्वानों ने विचार शास्त्र के लिए Philosophy का नाम दिया है। यह Philosophy शब्द ग्रीक शब्द Philos एवं Sophiya दो शब्दों के मेल से बना है। Philos का अर्थ प्रेम है और Sophiya का अर्थ है विद्या। इस प्रकार Philosophy का वास्तविक अर्थ है—प्रेम की विद्या। पाश्चात्त्यों में इस Philosophy शब्द का प्रयोग पहले विस्तृत अर्थ दर्शन और विज्ञान दोनों के लिए किया जाता था, पर बाद में विज्ञान को अलग हटाकर इसे केवल दर्शन या विचारशास्त्र के लिए ही रखा गया।[1]

दर्शनशास्त्र की विशेषताएँ

प्रकृति ने इस भारतभूमि को मानव जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण कर इस देशवासियों को ऐहिक चिन्ता से विनिर्मुक्त कर अध्यात्म चिन्तन करने की ओर अग्रसर किया है। यहाँ के जन-जन में विचारों की प्रधानता है। यहाँ का अध्यात्म चिन्तन मनुष्य के जीवन के साथ ही आया। यह अध्यात्म विद्या मनुष्य के ऐहलौकिक जीवन संग्राम के बाद पारलौकिक जीवन की ज्योतिर्मयी विद्या थी। गीता में अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन क्रम में भगवान् श्रीकृष्ण ने सभी विद्याओं में अपने को अध्यात्म विद्या कहा—

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।[2]

मुण्डकोपनिषद् में अध्यात्म विद्या को सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा कहा गया है—

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।।[3]

नीतिशास्त्र मर्मज्ञ कौटिल्य ने न्याय विद्या को सभी विद्यओं का प्रकाशक माना है एवं सभी कर्मों तथा अनुष्ठानों का साधन और आश्रय बताया है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।[4]

यही अध्यात्म विद्या कालक्रम के अनुसार उपनिषद् विद्या, विचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र आदि नामों से ख्यात हुई। इस दर्शनशास्त्र का भारतीय जीवन से गहरा सम्बन्ध है। इसके द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। सदाचार ही सद्विचार का बीज होता है और इन दोनों के सामंजस्य से विचारशास्त्र की शुरुआत होती है। पश्चिमी विचारशास्त्र के अनुसार दर्शन का उद्भव आश्चर्य से माना गया है।[5] किन्तु भारतीय मनीषियों ने विचारशास्त्र दर्शनशास्त्र को त्रिविधताप एवं साधन मार्ग को प्रशस्त कर परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन माना है।

---

1. भारतीय दर्शन — उपाध्याय
2. श्रीमद्भगवद्गीता, 10/32
3. मुण्डकोपनिषद्, 1/1
4. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1/2
5. भारतीय दर्शन — उमेश मिश्र, भूमिका

दर्शनशास्त्र का उपयोग

प्राय: देखा जाता है कि कोई भी विवेकी व्यक्ति निष्प्रयोजन किसी कार्य को नहीं करता। अत: सृष्टि से ही बहने वाली इस पवित्र विचारधारा का भी कुछ न कुछ मूल्य है। तप:पूत महात्माओं की ऐकान्तिक चिन्तन पद्धति मात्र समय निर्वाह के लिए न होकर किसी उच्च उद्देश्य के लिए क्रियाशील थी। लोकोपकार की भावना से उल्लसित उनका चेतन जगती तल के ताप निवारण के लिए तपा होगा। शायद यह भावना थी लघुता से प्रभुता की ओर जाने की, जीवात्मा और परमात्मा के एकीकृत होने की। सांसारिक गमनागमन रूप जीवन और मृत्यु के घोर संग्राम से दूर होकर निश्चित मुक्ति सत्ता की प्राप्ति ही दर्शन का चरम उद्देश्य है। अनेकता में एकता का विसर्ग ढूंढना भारतीय दर्शनशास्त्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जिस प्रकार परिवर्तनशील एवं नश्वर संसार के भीतर अपरिवर्तनशील अविनश्वर चिदात्मा सत्तावान् है उसी प्रकार पिण्ड के भीतर भी अपरिवर्तनीय तत्त्व की सत्ता है। ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम ब्रह्म और पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता आत्मा है। ऋषियों ने चिन्तनशैली के आधार पर दोनों का अनुभव किया और समाज को उपदेश दिया है। ब्रह्म की अनुभूति असाध्य नहीं, कष्ट साध्य है। उसे पाने के लिए जीवात्मा को सम्प्रेषित करना पड़ता है। जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्म सुख है और आत्म सुख ब्रह्म की अनुभूति और तदाकाराकारित हुए बिना असम्भव है। यद्यपि भारतीय दर्शन भी मुक्ति के विषय में ऐकमत्य नहीं हैं, फिर भी आत्मा का ज्ञान करना प्रत्येक दर्शन का परम लक्ष्य है। मोक्ष की चर्चा करते हुए कहा गया है कि आत्मा का स्वरूपत: ज्ञान करना ही मोक्ष है—

आत्मन: स्वरूपेणावस्थितिर्मोक्ष:।।[1]

अध्यात्मचिन्तन मोक्ष प्राप्ति का सरल उपाय है। याज्ञवल्क्य ने वृद्धावस्था में जब अपनी कात्यायनी और मैत्रेयी दोनों स्त्रियों के बीच सम्पत्ति का विभाजन करना चाहा तो मैत्रेयी ने लौकिक सम्पदा को तुच्छ बतलाते हुए कहा, "क्या मैं बहुत बड़ी सम्पत्ति लेकर अमरत्व प्राप्त कर सकूंगी? महर्षि ने कहा, "नहीं इस सम्पत्ति से लौकिक सुख मिल सकता है। अमरत्व तो अध्यात्म की उपत्यका में समाधिस्थ होकर मन की एकात्मता में ही निहित है।" उस समय महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आध्यात्मिक उपदेश दिया। उन्होंने कहा, "सबसे प्यारी वस्तु आत्मा है। अत: इस आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिए। मनन करना चाहिए। निदिध्यासन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के श्रवण, मनन व निदिध्यासन से सब कुछ जाना जा सकता है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य: मन्तव्य: निदिध्यासितव्य:।
आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति।।[2]

इस प्रकार दार्शनिकों ने चिन्तन की प्रक्रिया को ऐहलौकिक दृष्टि से कम और पारलौकिक दृष्टि से अधिक देखा है।

---

1. वृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/1
2. वृहदारण्यकोपनिषद्, 2/4/8

संक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि संसार के जितने बन्धन है, उनका एकमात्र कारण अविद्या है। अविद्या से ही संसार की जन्म-मृत्यु हुआ करती है तथा जीव अपने को अनेक दु:खों का पात्र बनाये रहता है, इस सिद्धान्त को प्राय: सभी दार्शनिक मानते हैं। अविद्या के स्वरूप निर्धारण में भी प्राय: एक मत है। अविद्या से समस्त रागद्वेषादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है। इस अविद्या, क्लेश आदि का नाश ज्ञान से होता एवं अज्ञान के उपशमन से मुक्ति का लाभ होता है। कहा भी गया है—ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः।[1]

अत: स्पष्ट है कि अध्यात्म चिन्तन से ज्ञान प्राप्ति और ज्ञान से मुक्ति होती है, अत: दर्शनशास्त्र मुक्ति का उपायोपाय होने से मानव के अध्यात्मिक जीवन में परमोपयोगी है।

दर्शन का विभाग

भारतीय दर्शन की अनेक पुस्तकों को देखने से पता चलता है कि वे भारतीय दर्शन सें केवल वेदमूलक दर्शनों को ही लेते, परन्तु ऐसा करने से आगममूलक दर्शन छूट जाते हैं। संस्कृत वाङ्मय के तप:पूत मनीषी आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में इस विषय पर लेखनी चलायी है।[2] उनके 'भारतीय दर्शन' पुस्तक के आधार पर ही यहाँ दर्शन के विभाग को विवेचित किया जायेगा।

भारतीय संस्कृति में पल्लवित होने वाले निगम और आगम को आधार मानकर मनीषियों की चिन्तनात्मक प्रक्रिया शुरू हुई। सामान्यत: सभी दर्शनिकों का मूल उद्देश्य दु:ख का नाश कर ज्ञान द्वारा मोक्ष को प्राप्त करना ही है फिर भी ज्यों-ज्यों इस क्षेत्र में विचारकों की संख्या बढ़ती गई उनके विचार में भी वैषम्य होता गया और यही विचारधारा पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय में विभक्त हो गई। सामान्यत: हमारी संस्कृति के अनुसार चिन्तकों के चिन्तन के आधार निगम और आगम—दोनों थे। निगम (वेद) को आधार मानकर विकसित होने वाले दर्शन निषेध मुखेन और प्रवृत्तिमुखेन दो प्रकार के हुए, जिन्हें क्रमश: नास्तिक दर्शन एवं आस्तिक दर्शन कहा गया।

नास्तिक दर्शन

सामान्यत: ईश्वर की सत्ता नहीं मानने वाले को नास्तिक कहते हैं, किन्तु इस अर्थ को लेने से आस्तिक दर्शनों में परिगणित मीमांसा, सांख्य आदि में भी ईश्वर को नहीं स्वीकार किए जाने से इन्हें भी नास्तिक दर्शन की कोटि में रखना पड़ेगा, जो सर्वथा अनुपयुक्त है।

इसी प्रकार पाणिनि के 'अस्ति नास्ति दिष्टं मति:'[3] के अनुसार 'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्यासौ आस्तिक:' अर्थ करें तो भी दर्शनों के विभाग की अव्यवस्था हो सकती है, क्योंकि नास्तिक दर्शनों में परिगणित जैन और बौद्ध दर्शन भी कर्म सिद्धान्त और परलोक में विश्वास करते हैं, अत: इन्हें भी आस्तिक दर्शन की कोटि में रखना आवश्यक हो जाएगा।

---

1. भारतीय दर्शन, भूमिका, पृ. 4
2. भारतीय दर्शन, पृ. 20
3. अष्टाध्यायी, 4/4/60

इसलिए नास्तिक और आस्तिक का अर्थ वेद के निन्दक और प्रशंसक को लेकर किया जाता है, क्योंकि स्मृति में 'नास्तिको वेदनिन्दकः'[1] कहा गया है। इस दृष्टि से नास्तिक दर्शन चार्वाक, बौद्ध और जैन तीन माने गये हैं तथा बौद्ध दर्शन—वैभाषिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और माध्यमिक—भेद से चार प्रकार का होता है। इस प्रकार नास्तिक दर्शनों की संख्या चार्वाक (बौद्ध) वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक तथा जैन—ये छः प्रकार की हैं। आस्तिक दर्शन वेदमूलक होते हैं और ये भी छः प्रकार के होते हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त।

इनके अतिरिक्त आगम या तन्त्रमूलक दर्शन हैं, जो सर्वथा वेद सम्मत नहीं स्वीकार किए जा सकते हैं। पाञ्चरात्रसंहिता, शैवसंहिता तथा शाक्तसंहिता में वैदिक तथा वेदवाह्य सिद्धान्तों का विचित्र सम्मिलन है। शिवमहिम्न स्तोत्र में पाशुपत और वैष्णव तन्त्रों को त्रयी (वेदत्रयी) की चर्चा के बाद भी उल्लिखित किया गया है।[2] इससे भी इनका वेदमूलक दर्शन से पृथक् होना सिद्ध होता है। अतः तन्त्रमूलक दर्शन का उपर्युक्त श्रेणीक्रम से पृथक् स्थान निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है।

'तन्त्र' शब्द तनु विस्तारे धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है—तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्।[3] इसका दूसरा नाम आगम भी है। वाचस्पति मिश्र ने योगभाष्य की तत्त्ववैशारदी व्याख्या में आगम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः[4] अर्थात् जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के उपाय बुद्धि में आते हैं, वह आगम कहलाता है।

सामान्यतः तन्त्र—ब्राह्मण, बौद्ध और जैन के भेद से तीन प्रकार का होता है। ब्राह्मण तन्त्र—वैष्णवागम, शैवागम तथा शाक्तागम भेद से पुनः तीन प्रकार का है। इसी शैवागम सिद्धान्त से सम्बन्धित रसेश्वरदर्शन, व्याकरणदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन आदि हैं। इसी तरह माहेश्वर समप्रदाय भी चार हैं—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन सभी को शैवागम शब्द से अभिहित किया जाता है।

आगममूलक दर्शन के वैष्णव तन्त्र में विष्णु को, शैवतन्त्र में शिव को एवं शाक्ततन्त्र में शक्ति को परा देवता के रूप में माना गया है। आगममूलक दर्शन के सम्प्रदाय कालक्रम के अनुसार और विकसित हुए। किन्तु प्रकृत स्थल में उनका उपयोग नहीं होने के कारण संक्षेप में 'उद्देश' कथन ही किया गया है।[5]

इस प्रकार भारतीय दर्शन से नास्तिक दर्शनों, वेदमूलक आस्तिक दर्शनों तथा आगममूलक वैष्णव, शैव और शाक्त दर्शनों का बोध होता है।

---

1. मनुस्मृति, 2/9
2. शिवमहिम्नस्तोत्र
3. भारतीय दर्शन, तृतीय भाग, पृ. 325
4. भारतीय दर्शन, तृतीय भाग, पृ. 340
5. भारतीय दर्शन, पृ. 325

दर्शन एवं स्तुतिकुसुमाञ्जलि

अध्यात्म मानव जीवन के सुव्यवस्थित आनन्द का आधार है। संस्कृत वाङ्मय में शुरू से ही अध्यात्म की गङ्गा प्रवाहित हुई है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि कश्मीर के विद्यापुत्र श्रीजगद्धरभट्ट की लेखनी का वरदान है। इसमें शिव की स्तुति करते हुए कवि शिवमय हो गया है। भक्ति की धारा से आप्लावित इस स्तोत्र–काव्य में शैव दर्शन की गम्भीर विवेचना हुई है। काव्य की पीठिका में दार्शनिक तत्त्वों का गुम्फन करना कवि की असाधारण विशेषता है। इस स्तोत्र–काव्य में जहाँ काव्योचित गुणों की बहुलता एवं भाषा में पीयूष प्रवाह है, वहीं दार्शनिक–तत्त्वों का उपनिवेश भी। इसमें मुख्यरूपेण शैवागम के सिद्धान्तों के विवेचन के साथ–साथ अन्य भारतीय दर्शनों के भी स्थल पूर्णरूपेण विद्यमान हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन नीचे प्रस्तुत है।

न्याय–वैशेषिक दर्शन

न्याय और वैशेषिक दर्शन में प्रमाणों के विस्तृत विवेचन के साथ ही प्रमेय पदार्थों की भी विवेचना है। इसमें ईश्वर का विवेचन प्राधान्येन किया गया है। इसके अनुसार ईश्वर ही सत् असत् सभी कर्मों का निर्णय कर मुक्ति प्रदान करता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर न्यायसम्मत सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। एक स्थल पर कवि भक्ति के प्रवाह में बहने लगता है और वह उस तत्त्व की भीख मांगता है, जिसको लोग प्राप्त कर अणिमा आदि अनेक विभूतियों को प्राप्त करते हैं—

येनोपदिष्टमनपायमुपायमाप्य–
स्वर्गापवर्गविभवैर्विभवो भवन्ति।
देवः स वः सकलकर्मफलोपलम्भ–
विस्रम्भभूमिरभिवाञ्छितसिद्धयेऽस्तु।।[1]

यहाँ पर कर्मफल की ओर संकेत किया गया है। ईश्वर ही सभी प्रकार के कर्मफलों का नियामक एवं दाता है। कवि ने ईश्वर से अपने कर्म के अनुसार मुक्तिमार्ग की याचना की है।

अवतारवाद के अनुसार ईश्वर ही समय–समय पर अनेक रूपों को धारण कर लोकोपकार करता है। तदनुसार सांख्य तथा न्यायशास्त्र प्रवर्तक के रूप में ईश्वर ही शास्त्रों का उपदेश करता है। निम्न पद्य में कवि ने इसी भाव को दिखाया है—

निःसामान्याय मान्याय न्यायमार्गोपदेशिने।
मूर्धन्याय वदान्याय धन्याय स्वामिने नमः।।[2]

कवि ईश्वर तत्त्व का विवेचन करते हुए कहता है कि त्रिकाल में भी जिसकी सत्ता अक्षुण्ण है तथा जो अविद्यात्मक माया के आवरण से रहित है, अनुमान ही जिसकी प्रामाणिकता का साधन है एवं जो प्रभु जगत् वृक्ष का आनन्द रूप बीज है, वह हमें कल्याण प्रदान करे—

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/11
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/16

नित्यं निरावृति निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम जगदङ्कुरबीजमेकम्।
दिग्देशकालकलनादिसमस्तहस्त-
मर्दासहं दिशतु शर्ममहन्महो नः।।[1]

न्यायदर्शन में जगत्-कार्य के प्रति ईश्वर को निमित्तकारण माना गया है। यही विभु अणुओं से जगत् की सृष्टि करता है। यों तो वेदान्त दर्शन में जगत् की रचना में उपादान और निमित्तकारण ईश्वर ही है, परन्तु न्यायशास्त्र के अनुसार नहीं। यहाँ पर दिक्कृत कालकृत और देशकृत सभी सीमाओं से रहित स्वतन्त्र ईश्वर को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार कर विश्व प्रपंच का मूल कारण कहा गया है।

इसी प्रकार एक स्थल पर विभु की सर्वसमर्थता और उसकी महिमा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे स्वामिन्! आपकी महती कृपा से ही पुरुष, परमाणु, शुभाशुभ कर्म एवं काल आदि उपादान, निमित्त और सहकारी कारण के द्वारा जगत् के विस्तार में समर्थ होता है—

सर्वः किलायमवशः पुरुषाणुकर्म-
कालादिकारणगणो यदनुग्रहेण।
विश्वप्रपंच रचनाचतुरत्वमेति,
स त्रायतां त्रिभुवनैकमहेश्वरो वः।।[2]

भाव यह है कि न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर ही विश्व का निर्माण करता है। जैसे घटादि पदार्थों के निर्माण में मृत्तिका, दण्ड और चक्रचीवरादि क्रमशः उपादान, निमित्त एवं सहकारी कारण हैं उसी प्रकार विश्व प्रपंच की रचना में ईश्वर की इच्छा ही कुम्भकार है, परमाणु या प्रकृति आदि उपादान कारण, मनुष्य का शुभाशुभ कर्म निमित्त एवं देश काल आदि सहकारी कारण हैं। ये सभी कारण परतन्त्र होने से ईश्वर की इच्छा से ही कार्यान्वित होते हैं।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के एक पद्य में कवि कहता है कि किसी भी प्रकार के साधन की अपेक्षा नहीं रखने वाले ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति से युक्त विभु के समक्ष विश्व प्रपंच उनकी इच्छा नाम से ही उल्लसित हो जाता। भूमा विभु के समक्ष सारा प्रपंच करामलकवत् भासित होता है—

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्ष-
ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपंचः।
पश्यञ्जगत् करतलामलकीफलाभं
लाभं स पुष्यतु परं परमेश्वरो वः।।[3]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/1
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/4
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/5

न्यायदर्शन में जन्म को कर्ममूलक माना गया है। पूर्व जन्म का कर्म ही मनुष्य का संस्कार होता है और जीव उसी के अनुसार शुभाशुभ योनियों में जाकर कर्म का भोग करता है। कवि भक्ति के मानसरोवर में डुबकी लगाने लगता है, फलतः उसकी आँखें खुल जाती हैं। वह रोने लगता है—हे चंचल चित्त! तुम सौभाग्यवश मानव योनि प्राप्त किए हो, अब चेत करो! इस शरीर से साधना कर जन्म-मरण के महान् दुःख से मुक्त हो जा। देखिए—

लब्धं चिरेण सुकृतैरचिरस्थिरं च,
मानुष्यकं पुनरिदं सुलभं न चेति।
जानीम एव च न स्वहितं विधातु-
मीहामहे वयमहो बत यद्भविष्याः।।[1]

'तमःशमन' नामक बारहवें स्तोत्र में श्रीजगद्धरभट्ट शिव को ही सब कुछ मानते हुए कहते हैं—हे प्रभो! तुम्हीं स्तुत्य हो, स्तोता हो, स्तुति हो, जो मैं तुम्हारी स्तुति कर रहा हूँ वह मेरी मूर्खता है—

स्तुत्यस्त्वमेव स्तुतिकृत्त्वमेव,
स्तुतिस्त्वमेव त्वदृतेस्ति नान्यत्।
इयं त्वविद्या यदहं स्तुवे त्वां,
स्तुत्येति मिथ्यापृथगर्थबुद्धिः।।[2]

यहाँ 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' की व्याख्या है। वस्तुतः ईश्वर ही सब कुछ है। जीव के ऊपर जब तक अविद्या रहती है वह उस परम सत्ता को नहीं पहचानता तथा स्तोता और स्तुत्य का भेद मानता है। पर ज्यों ही उसका यह भेद दूर हो जाता है उसका चित्त 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' की भावना से अनुप्राणित हो जाता है।

एक स्थल पर कवि सांसारिक कुरीतियों एवं विषयवासनाओं से ऊबकर करुणा की भीख मांगता है। वह संसार की वासनामय अग्नि की लपटों में दग्ध हो चुका है। अतः शान्ति शीत के समुद्र प्रभु की शरण चाहता है—

हन्तापहन्तापदुपद्रवाणां यस्याक्षयस्याक्षणिकः प्रसादः।
सन्तापसन्तापहरा प्रपेव कान्तारकान्ता रसना च यस्य।।[3]
तादृङ्नता दृङ् महतां समन्तादालोकदा लोकहिता च यस्य,
तं सन्ततं सन्तमसार्तलोकपालं कृपालङ्कृतिमीशमीडे।।[4]

न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर ही शुभाशुभ कर्मों का प्रेरक है। यही इच्छा, प्रवृत्ति, कर्म और जनन, मरण की व्यवस्था करता है। यह दयालु प्रभु जब जीव के ऊपर अपनी कृपा दृष्टि डालता है तब जीव योनि निर्मुक्त हो जाता है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/52
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/2
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 26/1
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 26/2

ईश्वर सिद्ध तत्त्व है। इसकी प्रामाणिकता के लिए किसी प्रामाणान्तर की आवश्यकता नहीं। इसी भाव को बहुत ही सुन्दर ढंग से कवि ने प्रस्तुत किया है—

> यद्वाङ्मयं सकलवाङ्मनसातिवृत्त-
> सीमानमीश! महिमानममानमेयम्।
> अस्मादृशं कृशदृशं भृशमामृशन्त-
> मन्तर्विमृष्य भवतो भगवन्नुदेति।।[1]

अर्थात् मन और वाणी से परे, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य अनुमान वेद्य प्रभु के हृदय में सांसारिक लोगों की अपने विषय में अनेक प्रकार की कुतर्कनाएँ सुनकर जो हास होता है, उसकी हम स्तुति करते हैं।

जगन्नियंता ईश्वर के दो रूप हैं—साकार एवं निराकार। जगत् का कल्याण करने के लिए ईश्वर को एकदेशीय होना पड़ता है तथा वह साकार होकर विश्व का कल्याण करता है। इसके विपरीत निराकार ईश्वर बहुदेशीय होता है। निम्न पद्य में कवि ईश्वर के साकार एवं निराकार दोनों रूपों का वर्णन किया है—

> कलयाऽऽश्रितं विरुजमेकलया
> कलया विधोर्दलितपाकलया।
> कलया गिरा च सकलाऽकल या
> कलया विना विहितशोकलया।।[2]

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जिस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रलय के घोर तिमिर में सोया रहता है। उस समय यह विश्वात्मा ही चराचर ब्रह्माण्ड का सृजन करता है। सर्वप्रथम यह सूर्य और चन्द्र की सृष्टि करता है। तब तीनों लोकों की। यह विभु सर्वसाक्षी और सर्वोपरि तत्त्व है। यही ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है।[3] यहाँ पर केनोपनिषद् में कह गये—

> न तत्र सूर्यो भाति न शशाङ्कचन्द्रमा,
> नेमा विद्युतो न कुतोयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
> तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।[4]

इस वाक्य का समर्थन होता है। परमात्मा अदृष्ट भोग के लिए ही जगत् की सृष्टि करता है तथा जीव को कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ कर्मों का भोग कराता है—

> अनादौ संसारे विदधति रजोबाधितधियः
> शुभं वा घोरं वा शबलमथ वा कृत्यमणवः।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 20/2
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 30/66
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/8, 9
4. केनोपनिषद्, 3/6

ततस्तद्भोगार्थं तरुणकरुणापूर्णहृदयो
विधत्से यत्तेषां तनुभुवननिर्माणमखिलम्।।
तदेतत्संकल्पप्रकटितसमस्तत्रिजगतः
प्रभोर्लीलामात्रं भुवनमहनीयस्य भवतः।
तवैकस्य स्वामिन् यदिह सहजे सर्वविषये
क्रियाज्ञाने नित्ये करणनिरपेक्षे प्रभवतः।।[1]

इसी प्रकार इसी स्तोत्र में कार्यकारण भाव की विवेचना करते हुए कवि कहते हैं कि हे प्रभो! जिस प्रकार घट–पटादि कार्य के कर्ता कुम्भकार आदि हैं। उसी प्रकार इस विचित्र जगत् की रचना के कर्ता तुम्हीं हो। तुम्हारे सम्बन्ध में जो लोगों का विवाद होता है वह उनकी अज्ञानता मात्र है—

प्रसिद्धोऽयं पन्था न भवति विचित्रा विरचना,
विना यत्कर्तारं स च न भवति ज्ञानरहितः।
अतोऽवश्यं कर्ता त्रिजगति विचित्रे ज्ञ उचितः
स च त्वं त्वय्यन्ये किमिव विविदन्ते हतधियः।।[2]

ज्ञातव्य है कि अनीश्वरवादी ईश्वर का खण्डन करते और कहते हैं कि ईश्वर नहीं है। उपर्युक्त पद्य में उन्हीं अनीश्वरवादी लोगों की ओर आक्षेप है। यह ईश्वर किसी की प्रेरणा से जगत् की रचना नहीं करता, क्योंकि जो व्यापक है उसका कोई दूसरा स्वामी नहीं है। वह स्वतन्त्र है। जगत् की रचना करना उसकी क्रीडा मात्र है।[3] कर्मों के क्षीण हुए विना प्राणी मुक्त नहीं होता और कर्म भोग से ही समाप्त होता है। इसी बात को अधोलिखित पद्य में कहा गया है—

अथास्येयं वाञ्छा प्रभवति न कर्मक्षयमृते,
नृणामुक्तिः सोऽपि क्वचन न विना भोगमुचितः।
विनाधारं भोगो न भवति वपुर्नापि भुवनं
ततोऽर्हं जन्तूनां तनुभुवननिष्पादनमिति।।[4]

कवि ने निरीश्वरवादियों का उत्तर बड़ी युक्ति के साथ दिया है, जो इस प्रकार है—

अथोपादानं मृत्तदनु सहकारीह लगुडो,
जलं चक्रं सूत्रं वरद! जड वर्गोऽयमखिलः
न यत्नं कौलालं प्रभवति विना कुम्भघटने
तथाधिष्ठातारं न भवति विना त्वां भवविधिः।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/10, 11
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/12
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/14
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/12
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/18

अर्थात् जो लोग कहा करते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो परमाणु आदि उपादान कारणों, कर्म, काल आदि सहकारी कारणों के विना ही जगत् की रचना क्यों नहीं कर लेता, साधन सापेक्ष क्यों है? वे लोग मूढधी हैं और उन्हें ज्ञान नहीं कि जैसे घट आदि बनाने के लिए मृत्तिका आदि सभी कारणों के रहने पर भी कुम्भकार की आवश्यकता होती, क्योंकि उपकरण जड वस्तुएँ हैं, उसी प्रकार परमाणु आदि उपकरणों के रहने पर भी सर्वसमर्थ ईश्वर की आवश्यकता है।

इस प्रकार कुसुमाञ्जलि में अनेक स्थलों पर न्यायशास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ईश्वर न्याय दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य है। कवि ने उसकी सत्ता के समर्थन में खूब वर्णन किया है।

'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'[1] न्यायसूत्र के अनुसार दुःख के आत्यन्तिक विनाश को मुक्ति कहते हैं। सूत्रकार ने अत्यन्त शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया है। इसके अनुसार जो जन्म ग्रहण किया गया है उसका नाश और आगे जन्म का भी नहीं होना 'अत्यन्त' का तात्पर्य है। इन दोनों की सिद्धि होने पर दुःख से आत्मा की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेष गुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार का नाश हो जाता है। सुख और दुःख धर्माधर्ममूलक हैं। महाकवि ने इस स्तोत्र–काव्य में न्यायप्रतिपादित मुक्ति की ओर इङ्गित किया है।

वैशेषिक दर्शन की तत्त्व मीमांसा न्याय से कुछ भिन्न होने पर भी आचार मीमांसा न्याय की तरह ही है। इसमें मोक्ष की परिकल्पना और उसकी प्राप्ति के उपाय न्याय दर्शन की भाँति ही हैं। जब अदृष्ट के अभाव होने पर कर्मचक्र की गति का अपने आप अन्त हो जाता है, तब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध टूट जाता है और जनन–मरण की परम्परा भी उसी के साथ बंद हो जाती है। सभी दुःखों का नाश हो जाता है। इसी को वैशेषिक दर्शन में मुक्ति कहा गया है।[2]

इस प्रकार न्याय और वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों में विशेष भेद नहीं होने के कारण जहाँ न्याय दर्शन के स्थल हैं वे ही वैशेषिक के भी हैं, अतः इनका पृथक् उपपादन नहीं किया गया है।

साङ्ख्ययोग दर्शन

साङ्ख्य और योग समान तन्त्र हैं। इन दोनों दर्शनों का सिद्धान्त प्रायः एक ही है। केवल अन्तर यह है कि साङ्ख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष को ही मानता है तथा योग दर्शन में इन दोनों से ऊपर एक ईश्वर तत्त्व की भी कल्पना की गई है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में महाकवि ने यत्र–तत्र साङ्ख्य योग प्रतिपादित सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है। संक्षेप में उन स्थलों का विवेचन इस प्रकार है—

1. न्यायसूत्र, 5/1
2. भारतीय दर्शन — उपाध्याय, पृ. 245

योगी चिन्मयी शक्ति को, जिसे कुण्डलिनी भी कहते हैं। अपने मूलाधार चक्र या विशुद्ध चक्र में धारण कर समाधिस्थ हो जाता है। यद्यपि इस परमात्मा में चांचल्य एवं स्थैर्य नहीं है, फिर भी मन की चंचलता के कारण परमात्म तत्त्व में भी चांचल्य प्रतीत होता है। वह परमात्मा समाधि काल में सुषुम्ना नाड़ी के मुँह में ऊर्ध्वमुख प्राणवायु से अपनी सुस्थिर स्वरूप स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इसी का विवेचन करते हुए महाकवि श्रीजगद्धरभट्ट कहते हैं—

हृद्गुहागहनगेहगूहितं
भासिताखिलजगत्त्रयोदरम्।
कन्दकन्दरदरीमुखोद्गत-
प्राणमारुतकृतस्थिरस्थितिम्।।
त्यक्तसर्वदशमक्षयोदयं
रूपवर्जितमभित्तिसंश्रयम्।
यं निरञ्जनमनक्षगोचरं
दीपमद्भुतमुशन्ति तं स्तुमः।।[1]

अर्थात् योगीजन जिस तत्त्व को हृदयरूपी गुहा के अतिगहन मन्दिर में गुप्त रूप से रखकर, जो सम्पूर्ण प्रपंच को प्रकाशित करता है, उसे उपस्थ और नाभि स्थल के मध्य में स्थिर कर प्राण वायु के सहारे मूल को ऊर्ध्वमुख किए रहते हैं। उस सर्वविस्थापित ईश्वर को प्रणाम करता हूँ।

भाव यह है कि शरीर के भीतर मूलाधार, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार नामक चक्र होते हैं। समाधिकाल में योगी मूलाधार स्थित तेज को सहस्रार चक्र में स्थिर कर लेता है और त्रिकाल का दर्शन करने लगता है। योगदर्शन के अनुसार पाँच प्रकार के क्लेश होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेषाः पञ्चक्लेशाः।[2]

उपर्युक्त पांचों क्लेशों से तथा कर्म विपाक और आशय से अत्यन्त अस्पृश्य ईश्वर है। योगसूत्र में इसे इस प्रकार कहा गया है—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।[3]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के द्वितीय अध्याय में कवि ने अशेष क्लेश शान्त करने वाले, त्रिगुणात्मक ग्रन्थि का विभेदन करने वाले परमात्मा शिव को नमस्कार किया है—

नमः शिवाय निःशेष-क्लेशप्रशमशालिने।
त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद-भवभेदविभेदिने।।[4]

यहाँ पर क्लेश शब्द कर्मविपाक और आशय इनका भी उपलक्षण है। योगदर्शन में प्रतिपादित ईश्वर की ओर निर्देश है। त्रिगुण ग्रन्थि दुर्भेद शब्द भी सांख्य शास्त्र प्रतिपादित

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/11, 12
2. योगसूत्र, 1/5
3. योगसूत्र, 1/13
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/2

गुणों की ओर इङ्गित करता है। साङ्ख्य में सत्त्व की प्रीत्यात्मक, रजस् को अप्रीत्यात्मक एवं तमस् को विषादात्मक कहा गया है।[1]

इन तीनों गुणों की गांठ हो जाने सेअतीव दुर्भेद्य तथा दृढ़ बने हुए सांसारिक बंधन, यानी देह, इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न भेद ग्रन्थि का विभेदन करने वाले परम तत्त्व की विशेषण मुखेन स्तुति है।

पञ्चमस्तोत्र में कवि कहता है कि प्रभु की दिव्य दृष्टि जिस विद्वान् के ऊपर हो जाती है। उसके बुद्धि तत्त्व और वाणी का विलास अलौकिक हो जाता है—

यातः गुणैरुपचयं विमला प्रकृत्या,
नैसर्गिकीं परिणतिं प्रथमां वहन्ती।
बुद्धिः सतां शशिकलामुकुटप्रसादा-
द्वाणी च न क्वचिदपि प्रतिघातमेति।।[2]

तात्पर्य यह है कि चातुर्य, गाम्भीर्य एवं माधुर्य आदि गुणों से अलङ्कृत, स्वभाव से निर्मल तथा प्रकृति की प्रथम विकृति स्वरूप महत्तत्व बुद्धि एवं माधुर्य ओज प्रसाद तीनों गुणों से समन्वित कवियों की वाणी भगवान् सदाशिव की कृपा से ही सर्वत्र आदर एवं विजय प्राप्त करती है।

विवेच्य यह है कि साङ्ख्यदर्शन में पच्चीस तत्त्वों को माना गया है, जिनको चार भागों में विभक्त किया गया है—प्रकृति, विकृति एवं न प्रकृति न विकृति।[3] मूल तत्त्व प्रकृति है यह किसी की विकृति नहीं। पञ्चमहाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश विकृति ही हैं। महत्तत्व, पञ्चतन्मात्रा आदि प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और पञ्चमहाभूतों के जनक हैं। इसीलिए ये प्रकृति विकृति दोनों हैं। पुरुष न किसी को उत्पन्न करता है और न किसी से उत्पन्न होता है, अतः यह प्रकृति विकृति दोनों नहीं हैं।4 यहाँ पर कवि ने बुद्धि को प्रकृति के प्रथम परिणाम के रूप में लिखा है। यह तो स्पष्ट ही है कि सांख्यों ने उत्पत्ति को नहीं, परिणाम को माना है। अतः मूल प्रकृति से सर्वप्रथम महतत्त्व, जिसे बुद्धि तत्त्व भी कहा जाता है, का परिणमन होता है।

अष्टाङ्ग साधन योगशास्त्र का प्रधान विषय है। सप्तमस्तोत्र के एक पद्य में कवि ने कहा है कि प्रभु! आपके चरणारविन्द में जिसका दृढ़ अनुराग है तथा जो लोग भक्ति रस के आनन्द को अच्छी तरह जानते हैं वे सरस हृदय महात्मा जनन मरण की परम्परा का मूल से ही समापन करने वाली समाधि में आश्रित होकर भी भगवद्भक्ति में ही अपना अनुराग श्रेयस्कर मानते हैं—

इदं विदन्तः सुधियो भियोज्झिताः
समाधिमाधिच्छिदमाश्रिता अपि।

---

1. साङ्ख्यकारिका, 42
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 5/12
3. साङ्ख्यकारिका, 16
4. साङ्ख्यकारिका, 20

प्रभुप्रणामस्तुतिचिन्तनार्चन-
स्फुटोपयोगं बहु मन्वते वपुः।।[1]

यहाँ पर अष्टाङ्गयोग प्रतिपादित समाधि की चर्चा की गई है। यों तो योगदर्शन में क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध आदि चित्त की पाँच वृत्तियों के निरोध का नाम योग है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'।[2] कुछ स्थलों पर योग का अर्थ सम्बन्ध मानकर जीवात्मा और परमात्मा की एकतानता को समाधि कहा जाता है—

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते।।[3]

अर्थात् जिस प्रकार जल और लवण आपस में मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार आत्मा और मन की एकात्मता को समाधि कहते हैं।

ग्यारहवें स्तोत्र में कवि श्रीसदाशिव का स्तवन करते हुए कहता है कि हे प्रभो! आप भी निर्गुण (प्रकृति विकृति से रहित) हैं और मैं भी निर्गुण (गुणरहित) हूँ आपका धाम शून्य है और मेरा भी धाम शून्य है आदि, भेद इतना ही है कि आप शिव हैं और मैं अशिव हूँ—

त्वं निर्गुणः शिव तथाहमथ त्वदीयं,
शून्यं परं किमपि धाम तथा मदीयम्।
त्वच्चेद्रवि प्रविदधासि धृतिं तथाहं
कष्टं शिवस्त्वमशिवस्तु विधिक्षतोऽहम्।।[4]

यहाँ पर निर्गुण विशेषण द्वारा साङ्ख्य सम्मत पुरुष की ओर निर्देश किया गया है। सत्व, रज और तम—तीनों गुणों की साम्यावस्था मूल प्रकृति है, विषमावस्था विकृति। पुरुष तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों से परे है 'न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः'।[5]

एक स्थल पर यौगिक क्रिया का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो शिव शरीरस्थ षट् चक्रों में विचरण करता है, वह मेरी कल्याण-परम्परा का वहन करे—

षट्चक्रस्थः षडध्वप्रसरसरभसः सर्गबन्धप्रगल्भः,
प्रत्यग्रप्रह्वनव्यस्तवपठनपरब्रह्मसच्चक्रशक्रः।
दक्षक्रत्वन्तकत्वं दधदधममदध्वंसलक्ष्यप्रशंसः
संसर्गध्वस्तपङ्को गणगणमचलं कल्पयन् हन्त्वशं वः।।[6]

यहाँ पर मूलाधार, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार चक्रों के मध्य में विचरण करने वाले चिन्मय तत्त्व की ओर संकेत किया गया है। योगतन्त्र में बताया गया है

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/29
2. योगसूत्र 1/2
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, टीका, पृ. 230
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/93
5. साङ्ख्यकारिका, 20
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 34/3

कि मनुष्य के शरीर में उपर्युक्त छ: चक्र होते हैं और सबसे नीचे मूलाधार चक्र होता है। जहाँ पर कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है।

इसी तरह एक स्थल पर पौराणिक कथानक को प्रस्तुत करते हुए महाकवि साङ्ख्यशास्त्रीय सिद्धान्त को प्रस्तुत किए हैं—

जातस्य मृत्युरिति चेत्स न लङ्घित: किं
श्वेतेन शीतकरशेखर नन्दिना च।
ताभ्यामसौ यदि जितो विपुलैस्तपोभि-
रस्माकमल्पतपसां त्वनिवार्य एव।।[1]

तात्पर्य यह है कि जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु सुनिश्चित है, क्योंकि नित्य पदार्थों का न नाश होता और न सृष्टि। अनित्य पदार्थ निर्मित होते और नष्ट भी होते हैं। जो तत्त्व अविनश्वर है उसका कभी नाश नहीं होता। आत्म तत्त्व नित्य पदार्थ है, अविनश्वर है, अत: इसका कभी भी विनाश नहीं होता। गीता के द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदिष्ट करते हुए इसी सिद्धान्त को व्याख्यायित किया है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।[2]

अर्थात् हे अर्जुन! उत्पन्न होने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मृत्यु प्राप्त का जन्म। इसलिए इस अपरिहार्य विषय के लिए तू सोच मत कर। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी साङ्ख्ययोग दर्शन के सिद्धान्त स्तुति प्रसङ्ग में कहे गए हैं। यह दर्शन मानव के अन्त:तन्त्र से सम्बन्धित है। इसे मनोविज्ञान का मूल कहा जा सकता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन और भी अनेक स्थलों पर हुआ है।

पूर्वोत्तर मीमांसा दर्शन

वेद के कर्मकाण्डमूलक दर्शन को पूर्वमीमांसा (मीमांसा दर्शन) एवं ज्ञानकाण्डमूलक को उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) कहते हैं। इन दोनों दर्शनों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं गम्भीर है। मीमांसा दर्शन में वेद को क्रियापरक माना गया है। इसमें कर्म की प्रधानता है। इसके विपरीत वेदान्त को ज्ञानपरक मानकर ज्ञान का ही मुख्यरूपेण विवेचन है।

मीमांसादर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। धर्म की परिभाषा देते हुए भगवान् जैमिनि ने **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:'**[3] कहा है। अर्थात् चोदना द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। मीमांसा और वेदान्त के मोक्ष सम्बन्धी विचार प्राय: एक से ही हैं। मोक्ष के महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसकों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है। इनके अनुसार

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 9/55
2. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/24
3. जैमिनिसूत्र, 1/2

'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो नाम मोक्षः'[1] है। तात्पर्य यह है कि इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को संसार के बंधन में रखा है। आत्मा शरीर से सम्बन्धित होकर इन्द्रियों के साहाय्य से बाह्य विषयों का अनुभव करता है। भोगायतन शरीर, भोग साधन इन्द्रिय और भोगविषय पदार्थ—इन तीनों के आत्यन्तिक विनाश को मोक्ष कहते हैं।

यों तो स्तुतिकुसुमाञ्जलि में मीमांसा विषयक सिद्धान्तों का विवेचन स्पष्ट रूपेण नहीं मिलता। फिर भी कतिपय स्थलों पर की गई मुक्ति विषयक चर्चा मीमांसा के मोक्ष सिद्धान्त से तालमेल रखती है। ग्रन्थकार सांसारिक जीवन से ऊबकर आत्मा से संसार के सम्बन्ध को हटा देना चाहता है।[2] कवि अदृष्ट को भी मानता है। इन्होंने अपने स्तोत्र में अदृष्ट से ही जनन-मरण की व्यवस्था को स्वीकार किया है।[3] सामान्यतः मीमांसा दर्शन इस स्तोत्र-काव्य में नहीं के बराबर है।

वेदान्त दर्शन का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं गम्भीर है। अद्वैत वेदान्त का मूल मन्त्र है—परमार्थ सत्ता रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। अद्वैत वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है—आत्म ज्ञान की स्वयं सिद्धि। जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभव के आधार पर ही जगत् के समस्त व्यवहार चलते हैं। इस अनुभूति के स्तर से आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञान के एक होने के कारण ज्ञाता और ज्ञान में भेद नहीं है।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश होने के कारण यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना जाता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'[4] तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'[5] आदि ब्रह्म प्रतिपादक-स्वरूप लक्षण हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म निर्विशेष रूप से सत् चित् और आनन्दात्मक है तथा यही मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपरब्रह्म या ईश्वर कहलाता है।

शङ्कराचार्य ने माया तथा अविद्या दोनों को समानार्थक माना है। निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष-लक्षण जगत् की उत्पत्ति माया के ही कारण है। परमेश्वर की बीजशक्ति का नाम माया है। माया रहित होने से ब्रह्म जगत् की सृष्टि करने में प्रवृत्त नहीं होता। आवरण-शक्ति और विक्षेप-शक्ति नामक माया की दो शक्तियाँ हैं। इसी माया शक्ति द्वारा वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तविक रूप आवृत्त होकर अवास्तविक जगत् रूप अवस्तु का उदय होता है। तात्पर्य यह है कि आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को ढक लेती है और विक्षेप-शक्ति उस ब्रह्म-आकाश आदि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है।

---

1. जैमिनिसूत्र, 1/9
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/21
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 15246
4. छान्दोग्योपनिषद्, 3/6
5. छान्दोग्योपनिषद्, 3/12

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त का विवेचन वस्तुतः अनेक स्थलों पर किया गया है। प्रथम स्तोत्र में ही वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त विलसित होते दीखते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि निर्विशेष ब्रह्म ही आवरण शक्ति से आवृत्त होकर माया शक्ति के द्वारा विभिन्न रूपों में भासित होता है तथा उपाधि के भेद से अनेकता भी परिलक्षित होती है। वेदान्त के इसी सैद्धान्तिक पक्ष की विवेचना करता हुआ कवि कहता है—

कीचकादिकुहरेष्विवाम्बरं
बिम्बमम्बरमणेरिवोर्मिषु।
एकमेव चिदचित्स्वनेकधा
यच्चकास्ति तदुपास्महे महः।।[1]

अर्थात् जैसे एक ही आकाश बाँस, घट, पट एवं मठ आदि में तत्तद्रूप विशिष्ट होकर दिखायी देता है तथा जैसे एक ही सूर्य बिम्ब जल तरंगों में अनेक प्रकार से दिखायी देता है, उसी प्रकार अद्वितीय पूर्ण ब्रह्म तत्त्व, जो चेतन और अचेतन सभी पदार्थों में तदाकाराकारित होकर दिखायी देता है, उस तत्त्व को हम प्रणाम करते हैं।

उपर्युक्त पद्य में यत् और तत् का सारांश यह है कि एक ही ब्रह्म में उपास्य और उपासक भाव नहीं हो सकता। इसीलिए इस स्थल पर 'त्वम्' पदार्थ द्वारा जीव को तथा तत् पदार्थ द्वारा ब्रह्म को निर्दिष्ट किया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार तत् और त्वम् दोनों पदार्थों का अभेद ज्ञान ही ब्रह्म की उपासना है। इस स्थल पर 'तत्त्वमसि'[2] इस उपदेश महावाक्य की ओर संकेत किया गया है।

एक ही ब्रह्म उपाधि भेद से अनेक प्रकार का भासित होता है 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'।[3] इसी प्रकार जीव और ब्रह्म की भी एकता स्पष्ट ही है 'जीवो ब्रह्मैव नापरः'।[4] महाकवि ने कुसुमाञ्जलि के एक पद्य में इसी भाव को रखा है—

स्वावभासमयमेव मायया,
येन भिन्नमवभास्यते जगत्।
चित्रमिन्द्रधनुरभ्रलेखया
भास्वतेव तदुपास्महे महः।।[5]

अर्थात् जिस प्रकार एक ही सूर्य मेघ की रेखाओं के संयोग से नाना प्रकार का दिखायी देता है उसी प्रकार देव, दानव, किन्नर, गन्धर्व, मनुष्य एवं छोटे-छोटे जीवों में भी स्वयं प्रकाश परमात्मा विराजमान है।

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/8
2. योगदर्शन 1/27
3. छान्दोग्योपनिषद्, पृ. 46
4. छान्दोग्योपनिषद्, पृ. 31
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/10

वस्तुतः ब्रह्म त्रिलिंगातीत नाम रूप रहित एक नितान्त सूक्ष्म एवं निर्विकार तत्त्व है। इसका अपना न कोई रूप है और न कोई गुण ही। इसके ऊपर जब माया का आवरण चढ़ जाता है तो यह नाना रूपों में भासित होने लगता है। इसी प्रकार त्रिलिंगातीत ब्रह्म जिस लिंग और नाम वाले वस्तु के साथ सम्बन्धित होता है, उसी प्रकार का हो जाता है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि के द्वितीय स्तोत्र में कवि परमात्मा के अभेदात्मक अद्वैत रूप की ओर निर्देश किया है, जो इस प्रकार है—

ॐ नमः परमार्थैकरूपाय परमात्मने।
स्वेच्छावभासितासत्यभेदभिन्नाय शम्भवे।।[1]

यहाँ पर सर्वप्रथम ॐ प्रणव का प्रयोग है। यह पूर्ण ब्रह्म या ईश्वर का वाचक है। कहा भी है 'तस्य वाचकः प्रणवः'।[2] इसे मङ्गलार्थक भी माना जाता है—

ॐकारावथशब्दौ च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।[3]

कवि ब्रह्म का निर्वचन करते हुए कहते हैं कि जैसे कटक, कुण्डल और कर्णिका आदि में एक ही सुवर्ण है। समुद्र, नदी, कूप आदि में एक ही जल है उसी तरह सुर, नर, पशु, पक्षी आदि अनेक नामों से प्रतीत होने वाले विभिन्न रूपों में एकमात्र परमार्थ रूप से विद्यमान परम ज्योति को हम नमस्कार करते हैं—

कर्णिकादिष्विव स्वर्णमर्णवादिष्विवोदकम्।
भेदिष्वभेदि यत्तस्मै परस्मै महसे नमः।।[4]

इस प्रकार द्वितीय स्तोत्र में अनेक स्थलों पर केवल ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। यहाँ कवि ने मूल पीठिका के रूप में काव्य को नहीं, दर्शन को स्वीकार किया है।

निर्विशेष ईश्वर बहुद्देशीय होता है। उसकी पूजा पूजन सम्भारों द्वारा सम्भव नहीं है। अतः भक्ति सविशेष ईश्वर में ही हो सकती है। एक स्थल पर मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ बतलाते हुए कवि कहता है—

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।
किं भूयसा भवतु सैव सुधामयूख-
लेखाः शिखारमणभक्तिरभङ्गुरा वः।।[5]

अभिप्राय यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। मोक्ष जीव का परम पुरुषार्थ है। मुक्त मनुष्य जनन-मरण की समस्याओं से निर्मुक्त होकर

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/1
2. योगसूत्र, 1/26
3. वेदान्तसार की भूमिका, पृ. 5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/12
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/11

सच्चिदानन्दमय हो जाता है, किन्तु यहाँ पर कवि का आशय यह है कि मुक्ति भक्ति की अवरोधिका है। भक्ति तभी हो सकती है जब भक्त और भगवान् में उपास्य उपासक भाव सम्बन्ध हो, तादात्म्य नहीं। मुक्ति तो तदाकाराकारित होने की अवस्था है।

वेदान्त दर्शन में तत्त्वमसि[1] को उपदेश महावाक्य और अहं ब्रह्मास्मि[2] को अनुभव महावाक्य कहा जाता है। गुरु शिष्य को उपदेश देता है 'तुम ब्रह्म हो'। शिष्य गुरु की बातों के अनुसार चिन्तन करता है और तत् पदार्थ की अनुभूति हो जाने पर कहता है, 'मैं ब्रह्म ही हूँ।' महाकवि ने इसी सिद्धान्त का संकेत निम्न पद्य में किया है—

> अलौकिकाह्लादनिबन्धनं मनः-
> प्रसादनं स्वानुभवैकसाक्षिकम्।
> प्रकाशतां वो हृदि पारमेश्वरं
> महो रहस्यं सुकवेर्गिरामिव।।[3]

अर्थात् अपना अनुभव ही जिसकी सत्ता में प्रमाण है, वह सच्चिदानन्द परमात्मा मेरे हृदय में विराजमान होवे।

परमात्मा के निर्गुण एवं सगुण दो रूप हैं। निर्गुण सर्वव्यापी निराकार है। किन्तु लोकोपकार की भावना से अनुप्राणित होकर यह परमात्मा नाम-रूपात्मक एकदेशीय हो जाता है। इसी भाव को कवि ने निम्न पद्य में व्यक्त किया है—

> अपि जगद्विदितः करुणापरः,
> परहिताहितमूर्तिपरिग्रहः।
> किमिति हंसि न हंस हृदम्बुजे,
> कृतपदो विपदः शरणार्थिनाम्।।[4]

परमात्मा अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार असद् वस्तु में सत् का और सत् में असत् भान होना ही अध्यास है।[5]

संसार की स्थिति अध्यासमूलक है। इस अनात्मज्ञान का निरसन ईश्वर की कृपा से ही हो सकता है। इसीलिए महाकवि अज्ञान का नाश कर प्रभु से ज्ञान की भीख मांगता है—

> क्षतविभवविशेषाः प्राणमात्रावशेषा,
> विपदमनुभवामः कर्मपाको हि वामः।
> तदिह भुजगहारः क्लृप्तमोहापहारः,
> स भवति गतिरेकः कृत्तशोकातिरेकः।।[6]

---

1. वेदान्तसार, पृ. 25
2. वेदान्तसार, पृ. 30
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/2
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 10/7
5. ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, आमुख, पृ. 13
6. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 19/31

माया वेदान्त दर्शन का प्रमुख तत्त्व है। महाकवि स्तोत्र-काव्य में माया के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहते हैं—

अनित्ये नित्याशामशुचिनि शुचित्वव्यसनिता-
मनात्मन्यात्मास्थामथ महति दुःखे सुखमतिम्।
चतुर्थादुर्भेद्यामविरतमविद्यां परिणतां
हताशेषस्वाभामभिदधति मूलं भवतरोः।।[1]

अर्थात् अनित्य में नित्यत्व की बुद्धि अपवित्र में पवित्रता का भ्रम, अनात्म जड पदार्थों में आत्मबुद्धि एवं महान् दुःख में सुख बुद्धि, इस प्रकार चार प्रकार से परिणत हुई और आत्म प्रकाश को नष्ट कर देने वाली अविद्या ही इस संसार महावृक्ष का मूल है।

तात्पर्य यह है कि माया परमेश्वर में आश्रित होकर सुषप्ति रूपा है। यथा अग्नि में दाहकता निरन्तर रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म के साथ माया शक्ति निरन्तर विद्यमान रहती है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञानविरोधी भाव रूप पदार्थ है। उपर्युक्त पद्य में वेदान्त प्रतिपादित माया का निर्वचन है।[2]

वेदान्तदर्शन के अनुसार मुक्ति मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। कवि कहता है कि जो मानव अपने व्यस्त जीवन में से क्षण भर भी परमात्मा के चिन्तन में अपने मन को लगा देता है वह शीघ्र ही सारे कलुषों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है—

इह खलु पशुपतिनुतिभिः
कतिपयमपि यः कृतार्थयति कालम्।
सकलकलिकलुषमुक्तो,
जीवन्मुक्तः स किं बहुना।।[3]

जीवन्मुक्ति का अभिप्राय यह है कि इस शरीर के विद्यमान होते हुए भी ब्रह्म की उपासना द्वारा अपने समस्त कलुषों को धोकर सांसारिक विषयों से दूर हो ब्रह्म का चिन्तन करना एवं विदेहमुक्ति शरीर छोड़ने के बाद होती है। कवि ने यहाँ पर विदेहमुक्ति की अपेक्षा जीवन्मुक्ति को श्रेष्ठ बतलाया है। इसी प्रकार एक अन्य पद्य में भी दार्शनिक भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहता है—

कलिमलमषीकल्माषोऽयं मनोमुकुरः पुरः,
स्फुरितमपि न व्यक्तं वस्तुग्रहीतुमभवत्क्षमः।
सपदि विशदैः शब्दब्रह्मोर्मिभिर्विमलीकृते,
करबदरवत्पश्यामोऽस्मिन् समस्तमिदं जगत्।।[4]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/06
2. भारतीय दर्शन, पृ. 236
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 37/5
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 38/22

कवि कहता है कि मैं जब तक अज्ञान की महा निद्रा में सोया हुआ था तब तक प्रत्येक वस्तु अनेक तरह की प्रतीत होती थी। किन्तु सौभाग्यवश भगवत्कृपा से ज्ञान रूप अखण्ड प्रकाश के मिल जाने से सम्पूर्ण जगत् अद्वय ब्रह्मरूप भासित हो रहा है।

इसी प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि के अन्य पद्यों में भी वेदान्त दर्शन के स्थल भरे पड़े हैं। कवि सम्पूर्ण काव्य में **सर्वं खल्विदं ब्रह्म,** नेह नानास्ति किंचन के भाव को पूर्णरूपेण चरितार्थ करते हुए अखण्डानन्दस्वरूप अद्वय ब्रह्म शिव का प्रतिपादन किया है, जो वेदान्त की दृष्टि से पूर्णतः सफल है।

तन्त्र एवं शैवदर्शन

तन्त्र एवं आगम में कश्मीर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तन्त्र वेद का पूरक शास्त्र है। उपनिषद् में भी ब्रह्म के आनन्द से ही सृष्टि होती है **'आनन्दाद्ध्येयेवेमानि भूतानि जायन्ते'**।[1] यद्यपि उपनिषद् में भी स्पन्द को स्वीकार किया गया है परन्तु दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में उसको पल्लवित नहीं किया गया है। इस कार्य को तन्त्र ने पूरा किया। अतः तन्त्र वेद का न तो विरोधी है और न पुनरुक्ति ही; प्रत्युत् पूरक शास्त्र है। निगम और आगम—दोनों के सामंजस्य में ही ज्ञान की पूर्णता है और यही पूर्ण ज्ञान भारतीय धर्म तथा दर्शन का मूल स्रोत है।

कश्मीर प्रदेश में जिस अद्वैतवादी विचारधारा का जन्म हुआ, उसे त्रिकधारा के अन्तर्गत **'त्रिकदर्शन'** के नाम से पुकारते हैं। इस अद्वैत दर्शन पर उपलब्ध साहित्य के प्रायः सभी रचयिता कश्मीर के निवासी हैं। इसीलिए इसका दूसरा नाम **'काश्मीरशैवदर्शन'** भी है। काश्मीर शैवदर्शन की तीन धाराओं को क्रमशः **आगम, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा** के नाम से जाना जाता है।

आगमवर्ग

कश्मीर में अद्वैत शैवदर्शन की यह प्रधान तथा प्राचीन धारा है। आचार्य वसुगुप्त द्वारा लिखित **'शिवसूत्र'** जिस पर वसुगुप्त और क्षेमराज की टीकाएँ हैं, वे इस वर्ग के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

स्पन्दवर्ग

कश्मीर शैवदर्शन को 'स्पन्द' नाम से भी अभिहित किया जाता है। काश्मीर शैवाचार्यों के अनुसार परमेश्वर अपनी स्पन्द रूपा शक्ति से सदैव युक्त रहता है। स्पन्द रूपा शक्ति ही उसका नित्य स्वभाव है। शिव के इस रूप का तात्त्विक विवेचन वल्लटकृत **'स्पन्दकारिका'** में मिलता है। इस पर अपनी निर्णयवृत्ति में आचार्य क्षेमराज ने स्पन्द शास्त्र संज्ञा से भी इसका उल्लेख किया है।[2] किन्तु उत्पलदेव स्पन्द का व्यापक अर्थ न लेकर केवल स्पन्द कारिकाओं के लिए ही स्पन्दशास्त्र का प्रयोग किया है—

यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे।[3]

---

1. छान्दोग्योपनिषद्, 4/2
2. भारतीय दर्शन, तृतीय खण्ड, पृ. 243
3. शैवदर्शन, पृ. 22

प्रत्यभिज्ञा

अद्वैत शैवदर्शन के इस नामकरण का कारण प्रत्यभिज्ञा का सिद्धान्त है। उत्पलाचार्य विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' इसका प्रमुख ग्रन्थ है। माधवाचार्य[1] तथा आचार्य बलदेव उपाध्याय[2] ने इस दर्शन को प्रमुख रूप से प्रत्यभिज्ञा दर्शन की ही संज्ञा दी है।

प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति होने पर ज्यों ही गुरु वचनादि से मित प्रमाता को यह प्रत्यभिज्ञान हो जाता है कि 'मैं वही हूँ' त्यों ही उसे आत्म स्वरूप शिव का साक्षात्कार हो जाता है। अत: मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रत्यभिज्ञान का यह मार्ग अपनी नवीनता एवं विशेषता के कारण प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त आदि आचार्य इसी सिद्धान्त के अनुगामी हैं।

काश्मीर–शैवदर्शन का आविर्भाव

शैवाचार्यों ने शिवदृष्टि के सातवें आह्निक में शैवशास्त्रों के आविर्भाव का उल्लेख करते हुए लिखा है, कलियुग का प्रारम्भ होने पर शैवशास्त्रों के व्याख्याता ऋषिगण सामान्य जनों द्वारा अगम्य कलापि ग्राम आदि दुर्गम पर्वतीय स्थानों पर चले गये। उपदेष्टाओं की परम्परा को इस प्रकार तिरोहित हो जाने से लोक में शैव शास्त्रों का प्रचार अवरुद्ध हो गया। संसार रूपी समुद्र में निमग्न प्राणियों के प्रति दयापूर्ण हृदय होने के कारण धरा धाम पर श्रीकण्ठ के रूप में प्रकट होकर शिव ने कैलास पर्वत पर विचरण करते हुए दुर्वासा ऋषि को इस शास्त्र का प्रचार करने के लिए आदेश दिया। फलस्वरूप दुर्वासा त्र्यम्बकादित्य नामक मानस पुत्र उत्पन्न कर उसे शैवागम का सम्पूर्ण रहस्य प्रदान करके लोक में अद्वैत शैवदर्शन का प्रचार करने को कहा। इस प्रकार अद्वैत शैवागम का प्रचार हुआ।[3] त्र्यम्बक के नाम पर त्र्यम्बक शास्त्र की लोक में प्रसिद्धि हुई—

> एवमेषा त्र्यम्बकाख्यातैरन्वादेशभाषया।
> स्थिता शिष्यप्रशिष्याद्यैर्विस्तीर्णा मतिकोदिता।।[4]

त्र्यम्बकादित्य का सोलहवां शिष्य संगमादित्य घूमते–घूमते कश्मीर गया और वहीं रहने लगा। उसके पुत्र पौत्रादि और शिष्यों ने सम्पूर्ण कश्मीर प्रदेश में इस शास्त्र का प्रचार किया।[5]

क्रिया सिद्धान्त ही इसका मूल है। इसके अनुसार चैतन्य केवल शिव, ज्ञान या प्रकाश नहीं है वरन् शिव–शक्ति, ज्ञान क्रिया और प्रकाश विमर्श है। शिव शक्ति का यह तादात्म्य ही प्रतीक रूप में अर्धनारीश्वर के रूप में आया है। चैतन्य में आत्मचेतना या अहं विमर्श की व्याख्या भी क्रिया से ही होती है। यह चैतन्य की नित्य क्रिया या नित्य स्पन्द है। इसीलिए चैतन्य कभी भी आत्म चेतना या 'अहं विमर्श' से विरहित नहीं होता।

---

1. सर्वदर्शनसंग्रह, भूमिका, पृ. 12
2. भारतीय दर्शन, तृतीय खण्ड, पृ. 242
3. शिवदृष्टि — सोमानन्द, आ. 7/107-121
4. शिवदृष्टि, 7/120
5. शिवदृष्टि, आ. 7/114-119

परम तत्त्व

अद्वैतवादी होने के कारण काश्मीर 'शैवदर्शन' में स्वात्माभिन्न स्वतन्त्र शक्ति से युक्त होने से शिव परमेश्वर कहलाता है। संसार में जो कुछ भी भासित होता है वह उसकी स्वतन्त्र शक्ति का विलास है, उसके विश्वात्मक पारमेश्वर्य का ही एक अभिव्यक्त रूप है। सदाशिव से लेकर धरणी पर्यन्त सभी तत्त्वों की अवस्थिति इसी चैतन्यात्मा परमेश्वर में है, यही परम तत्त्व है, जिससे षट्त्रिंशदात्मक जगत् विकसित है—

यत् परमं तत्त्वं तस्मिन्विभाति षट्त्रिंशदात्मकं जगत्।[1]

उसकी विश्वमयता उसका एक स्वरूप है। अनन्त वैचित्र्यात्मक उसके परमैश्वर्य का बहि:प्रकाशक है, लेकिन साथ ही परमेश्वर सृष्टि व्यापार से ऊर्ध्व एक तत्त्वातीत स्वरूप में भी रहता है। ऐसी अवस्था में उसे तत्त्वातीत परमतत्त्व, अनुत्तर, परा, संविद् तथा पराचिति आदि नामों से पुकारा जाता है। उसका यह स्वरूप विश्वोत्तीर्ण है। जब उसको स्वात्माभिन्ना स्वातन्त्र्य शक्ति उसके ऐश्वर्य को पूर्ण हन्ता के रूप में प्रकाशित करती है उस अवस्था में जगत् अन्त:लीन रहता है। शैव दर्शन के अनुसार परम शिव प्रकाश–विमर्श रूप है। प्रकाश और विमर्श का अविनाभाव सम्बन्ध है—

प्रकाशमानं न पृथक् प्रकाशात्।
स च प्रकाशो न पृथक् विमर्शात्।।[2]

प्रकाश शिव रूप है और विमर्श शक्ति रूप। शिव शक्ति का नित्य सम्बन्ध ही परम शिव है। शिव शक्ति के इसी अभेद भाव को लक्ष्य कर शिवदृष्टि में कहा गया है—

न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवशक्तिस्वभावान्हि इच्छया कर्तुमीहते।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेद: शैवे जातु न वर्ण्यते।।[3]

शक्ति समन्वित होने पर ही शिव कर्ता है। शक्ति आत्म रूपी परम शिव का विमर्श है और इस विमर्श में ही वह सर्व–सामर्थ्यवान् है।[4] स्वतन्त्र शिव की इच्छा शक्ति ही शिव का स्वातन्त्र्य है—

स्वतन्त्र इति तस्येच्छा शक्ति: स्वातन्त्र्यसंज्ञिता।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यत:।[5]

आत्मा ज्ञातृ कर्तृ रूप है। प्रत्येक क्रिया का वह कर्ता है तथा वह विमर्श ज्ञानक्रिया है। इसलिए इसका भी कोई कर्ता है। इस प्रकार प्रज्ञान ज्ञान और क्रिया अभिन्न तथा एक है। काश्मीर शैवदर्शन में कहा गया है कि जो ज्ञान है वह क्रिया शून्य नहीं है और जो क्रिया है वह ज्ञानरहित नहीं है—

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।।[6]

---

1. परमार्थसार कारिका–1
2. विज्ञानभैरव विवृत्ति, पृ. 122
3. शिवदृष्टि विवृति, 3/2–3
4. मालिनीविजयवार्तिक, 1/87
5. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग 1–1, 8/11
6. नेत्रतन्त्र, उद्योत टीका, भाग–2, पृ. 181

परमेश्वर स्वातन्त्र्य शक्ति से युक्त होने के कारण स्वतन्त्र कर्ता है। स्वातन्त्र्य शक्ति सतत क्रियाशील होने से उसके परमैश्वर्य को अभिव्यक्त करती है। इसकी सहायता से स्वेच्छापूर्वक स्वचिति में परमेश्वर षट्त्रिंशदात्मक जगत् को अभिव्यक्त करता है। छत्तीस तत्त्व उसकी जगत् रूप से अभिव्यक्ति में विभिन्न स्तरों को द्योतित करते हैं। ये छत्तीस तत्त्व हैं—

1. शिव, 2. शक्ति, 3. सदाशिव, 4. ईश्वर, 5. शुद्ध विद्या, 6. माया, 7. कला, 8. विद्या, 9. राग, 10. काल, 11. नियति, 12. पुरुष, 13. प्रकृति, 14. बुद्धि, 15. अहंकार, 16. मन, 17. श्रोत्र, 18. त्वक्, 19. चक्षु, 20. जिह्वा, 21. घ्राण, 22. वाक्, 23. पाणि, 24. पाद, 25. पायु, 26. उपस्थ, 27. शब्द, 28. स्पर्श, 29. रूप, 30. रस, 31. गन्ध, 32. आकाश, 33. वायु, 34. अग्नि, 35. जल, 36. पृथ्वी।[1]

शिव

षट्त्रिंशत् तत्त्व संदोह में कहा गया है कि स्वतन्त्र चिद् घन संवित् स्वभाव परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से जब अक्रम में ही आभास रूप से, अर्थात् पारमार्थिक कार्यकारण भाव से अपने स्वरूप को ही अपने अन्तर्गत अखिल विश्व रूप में आभासित करने की इच्छा करता है तब उसके विश्वोन्मीलन की उस इच्छा की अवस्था को ही शिव तत्त्व कहते हैं—

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलजगत्स्रष्टुम्।
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।[2]

तन्त्रसार के अनुसार पंचशक्ति स्वभाव परम शिव में चित् शक्ति का प्राधान्य होने पर वह शिव तत्त्व कहलाता है 'चिति प्राधान्ये शिवतत्त्वम्'[3] शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में अभेद रूप से विद्यमान आत्मा की इच्छा का विकास ही उसका विश्वात्मक रूप है, 'स्वयं प्रकाशरूपः परमेश्वरः पारमेश्वर्या शक्त्या शिवादिधरण्यन्तजगदात्मा स्फुरति प्रकाशते हि।[4] यह नाना रूपात्मक जगत् शिव की शक्ति का विस्तार है 'शक्तेरेवायं सर्वो विस्फारः'।[5]

शक्ति

यह परमेश्वर की आभासरूपता में दूसरा तत्त्व है, जो शिव का अभिन्न स्वरूप है।[6] उन्मेष की ओर उन्मुख परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही उद्भूत होने वाले समस्त जगत् को अपने अन्दर ऐक्य भाव से विलीन किए रहने के कारण शक्ति तत्त्व कहलाती है 'तस्य स्वाभिन्न-स्वतन्त्रेच्छाशक्तिरेव। उद्भविष्यतो विश्वस्य स्वान्तर्विलीनत्वात् बीजभूता शक्तितत्त्वतां याति'।[7] तन्त्रालोक के टीकाकार 'जयरथ' का कथन है कि रूपता (बाह्य रूपत्व) के प्रति परमेश्वर की उन्मुखता रूप क्रिया ही शक्ति तत्त्व है 'तस्य बहिरौन्मुख्येन व्यापारः शक्तितत्त्वम्'[8] आचार्य क्षेमराज ने विश्वसिसृक्षा को प्राप्त परमेश्वर के प्रथम स्पन्द को शक्ति

---

1. षट्त्रिशत्-तत्त्वसंदोह, पृ.1
2. षट्त्रिंशत् तत्त्वसंदोह, का. 1
3. तन्त्रसार, पृ. 74
4. काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, पृ. 43
5. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग-2, पृ. 42
6. शिवदृष्टि, 3/2
7. षट्त्रिंशन्तत्त्वसंदोह, टीका, पृ. 3
8. तन्त्रालोक, पृ. 50

तत्त्व कहा है 'अस्य जगतः स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः परमेश्वरस्य प्रथमस्पन्द एवेच्छा-शक्तितत्त्वम्'[1] वस्तुतः उक्त दोनों तत्त्व एक ही हैं। न शिव शक्ति रहित हैं और न शक्ति शिव रहित।[2] केवल व्यवहार में ही यह कहा जाता है कि यह शक्तिमान् है तथा यह शक्ति।

अन्यतत्त्व

शिव और शक्ति के अतिरिक्त चौंतीस तत्त्व और हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में उनका कोई विशेष उपयोग नहीं होने से तथा विस्तार भय से उनकी व्याख्या यहाँ नहीं की जा रही है।

पंचविध कृत्य

अपने प्रतिहत स्वातन्त्र्य के कारण ही परमशिव अपने स्वरूप को प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय आदि नाना रूपों में कल्पित कर अनतिरिक्त को भी स्वात्मभित्ति पर अतिरिक्तवत् आभासित करता है।[3] जगत का अपने अन्दर यह अवभासन और उस आभासित जगत् का अपने अन्दन विलयन ही उसका स्वातन्त्र्य कर्तृत्व है—

कर्तृत्वं चैतदेतस्य तथा मात्रावभासनम्।[4]

इसी कर्तृत्व स्वभाव से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह रूपात्मक पंचविध कृत्यों में निरन्तर संलग्न रहता है।[5] सृष्टि, स्थिति आदि उसका पंचरूपात्मक स्वातन्त्र्य है और यही उसका ऐश्वर्य भी।

सृष्टि हेतु

इस चराचरात्मक जगत् का एकमात्र हेतु परम शिव है। समस्त विश्व उसी की प्रकाशरूपता का उन्मेष है, जो उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। उसकी इच्छा के अतिरिक्त इसका कोई दूसरा कारण नहीं है। इसीलिए 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में आचार्य क्षेमराज ने चिदात्मा को ही विश्व के उल्लास का हेतु कहा है—चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।[6]

प्रत्यभिज्ञा–हृदय में कहा गया है कि चिति अपनी स्वतन्त्र इच्छा से आत्मभिति पर ही अभेद रूप से विश्व को उन्मीलित करती है 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'।[7] आचार्य वसुगुप्त का यह कथन नितान्त यथार्थ है—

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।।[8]

एक ही साथ विश्व का उन्मेष और निमेष करने वाली इच्छा शक्ति को ही स्पन्द भी कहा गया है, 'सा चैषा स्पन्दशक्तिः युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी'।[9] वस्तुतः यह शक्ति एक ही है।

---

1. परा प्रावेशिका, पृ. 6–7
2. तन्त्रालोक टीका, भाग–7, आ. 11, पृ. 43
3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग 1, 1/5/6
4. तन्त्रालोक, भाग 6, आ. 9/22
5. स्वच्छन्दतन्त्र, टीका, भाग–3, पृ. 96
6. प्रत्यभिज्ञाहृदय
7. प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र 2
8. सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ. 362
9. स्पन्दनिर्णय, पृ. 3

परन्तु समझाने के लिए शिव की उस शक्ति को पाँच नामों से कहा गया है। विश्व के उन्मेष की दृष्टि से सदाशिव की पांचों शक्तियाँ क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम वाली हैं। इसके अनन्त रूप हैं, किन्तु इनमें पाँच महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

1. चित् शक्ति प्रकाश रूप है और इसी के द्वारा शिव अपने को स्वप्रकाश समझता है।
2. आनन्द शक्ति द्वारा शिव आनन्दमय है।
3. इच्छा शक्ति द्वारा सदाशिव जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करता है।
4. ज्ञान शक्ति द्वारा शिव स्वयं ज्ञान स्वरूप होता है।
5. क्रिया शक्ति से शिव सभी स्वरूपों को धारण करता है।

इस प्रकार पाँच शक्तियों से शक्तिमान् होने पर भी इनमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये ही प्रसिद्ध हैं **'एवं मुख्याभिः शक्तिर्भिर्युतोऽपि, वस्तुतः इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तोऽनवच्छिन्न प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः'**[2] क्योंकि चित् शक्ति और आनन्द शक्ति उसके पूर्ण स्वभाव के ही दो नाम हैं। परम शिव का प्रकाश ही उसकी इच्छा है और यह शक्ति ही विश्व आभास में उत्तरोत्तर उच्छून स्वभावता से ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति बनती है— **'इच्छाशक्तिश्चोत्तरोत्तरं मूर्च्छनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्ती भवति'**।[3] इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है **'एकस्या अपि इच्छायाः सूक्ष्मरूपज्ञानक्रिया संभेदेन त्रित्वात्'**[4] अर्थात् परमेश की एक स्वतन्त्र रूपा इच्छा शक्ति ही जगदाभास क्रम में तारतम्य भाव से ज्ञान और क्रियारूपता से अभिहित होती है। इस प्रकार परम शिव ही परमार्थ सत्ता है, क्योंकि जो जगत् है वह तो उसकी ही शक्ति है। जैसा कि तन्त्रालोक में कहा गया है—

शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमाँस्तु महेश्वरः।[5]

जिस प्रकार प्रशान्त, तरंग रहित समुद्र अपने स्वरूपभूत जल को अपने में ही अनेक तरंग मालाओं के रूप में आभासित करता है, उसी प्रकार परम शिव अपनी अखण्ड प्रकाश रूपता के अन्तर्गत अपनी स्पन्द रूपा इच्छा शक्ति को प्रकट करके अपने रूप को ही विश्व भाव से आभासित करता है—

तेने बोधमहासिन्धोरुल्लासिन्यः स्वशक्तयः।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्मसंहृतृचित्रताम्।।[6]

लहरों के रूप में उल्लसित जल अपने आधार रूप समुद्र से भिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार जगत् में दृश्यमान् प्रकाश अपने आधारभूत महाप्रकाश से पूर्णतः अभिन्न होता हुआ भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के रूप में भिन्न प्रतीत होता है। तरंगायित जल और निस्तरंग जल में व्यावहारिक भेद होने पर भी जैसे अभेद है, उसी प्रकार विश्वमय चैतन्य और विश्वोत्तीर्ण चैतन्य में भी अभेद है।

---

1. भारतीय दर्शन — उमेश मिश्र, पृ. 383
2. तन्त्रसार, पृ. 6
3. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवेचन, भाग-1, पृ. 17
4. काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, पृ. 51
5. तन्त्रालोक, भाग-3, आ. 5/40
6. तन्त्रालोक, भाग-2, आ. 3/102-3

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शैवदर्शन

सम्पूर्ण स्तुतिकुसुमाञ्जलि में श्रीसदाशिव की स्तुति की गई है। इसमें अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ-साथ शैव दर्शन का पूर्ण रूपेण विवेचन है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल देखे जा सकते हैं।

एक स्थल पर कवि कहता है कि मेरे आराध्य देव को जगन्निर्माण के लिए किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं। वे विना सामग्री के ही जगत् चित्र बनाने वाले चित्रकार हैं—

इच्छयैव भुवनानि भावयन्,
यः प्रियोपकरणग्रहोपि सन्।
अप्रियोपकरणगहोऽभवत्
तं स्वशक्तिसचिवं शिवं स्तुमः।।[1]

यहाँ पर सृष्टि क्रम में शिव की केवल इच्छा शक्ति की ओर निर्देश है। शिव इच्छा शक्ति द्वारा ही जगत् का निर्माण करता है।

शिव एकमात्र परम तत्त्व है तथा अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति इसी के द्वारा होती है। जगद्धरभट्ट ने शिव से इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का उल्लेख किया है—

एकस्य यस्य सकलः करणानपेक्ष-
ज्ञानक्रियस्य पुरतः स्फुरति प्रपञ्चः।
पश्यज्जगत्करतलामलकीफलाभं
लाभं स पुष्यतु परं परमेश्वरो वः।।[2]

आकाश में मेघ-मण्डल के समान, तालाब में जल के समान तथा सूर्य और चन्द्रमा में प्रकाश के समान शिव में यह निखिल ब्रह्माण्ड समाहित है। यह ब्रह्माण्ड इसी से उत्पन्न और विलीन होता है।[3]

यह शिव नित्य है। माया के आवरण से रहित है। केवल अपना अनुभव ही इसमें प्रमाण है। वह समस्त जगत् रूप अंकुरों का एक ही मूल कारण है तथा दशों दिशाओं एवं काम क्रोधादि से परे है—

नित्यं निरावृत्ति निजानुभवैकमान-
मानन्दधाम जगदङ्कुरबीजमेकम्।
दिग्देशकालकलनादिसमस्तहस्त-
मर्दासहं दिशतु शर्म महन्महो नः।।[4]

शिव जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं लय का कारण है—

नमो ब्रह्महरित्र्यक्षश्रवसे भवसेतवे।
जगत्सर्गस्थितिह्रासहेतवे वृषकेतवे।।[5]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/15
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/5
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/2
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 3/1
5. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 2/23

कवि कहता है कि जो परमात्मा परम मोक्ष स्वरूप है। स्वेच्छा से प्रकट किए हुए द्वैत प्रपञ्च से भिन्न है एवं पाँच प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म क्लेशों के त्रैकालिक सम्बन्ध से रहित तथा प्रीति अप्रीति और विषादस्वरूप सत्त्व, रज और तमो गुण की दुर्भेद्य ग्रन्थि को, अर्थात् अत्यन्त दृढ़ बने हुए भवबंधन यानी, देह, इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए संसार चक्र के भेदन करने में समर्थ है, जिसकी महिमा मन और वाणी से परे है, जो वेदों का आदि वक्ता है। यह सम्पूर्ण विश्व उस महनीय की लीलामात्र है, जिसने एकमात्र अपने संकल्प से ही इसे प्रकट किया है। उस विभु को मेरा नमस्कार है।

कवि श्रीसदाशिव के जगन्निर्माण-कर्तृत्व की व्याख्या करता हुआ कहता है कि उसे सांसारिक पदार्थों के निर्माण हेतु अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। जब सृष्टि के पूर्व सूर्य-चन्द्र आदि नक्षत्रों का प्रकाश नहीं था उस समय प्रभु ने अष्टविध रूप धारण कर अंधकार में निमग्न जगत् की रक्षा की—

चकाशे नाकाशे रविरविरलैरंशुपटलै-
रमन्दाभैरिन्दुस्तिमिरमहरन्नापि किरणैः।
न चान्यन्नक्षत्रग्रहदहनरत्नौषधितडि-
त्प्रदीपादिज्योतिः क्वचिदपि पुरा नाथ ददृशे।।[1]

एक स्थल पर कवि शिव और शक्ति के अभेद का निर्देश करता हुआ कहता है कि शिव परमेश्वररूप है और पार्वती परमेश्वरी शक्तिरूप। शक्ति अपने ही स्वरूपभूत शिव के अनन्त, शान्त एवं गम्भीर वक्षः स्थल पर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का स्वरूप धारण कर तथा उनके सर्ग, स्थिति एवं संहार तथा दिव्या और अनुदान की पंचविध लीला करती हुई मानो नृत्य करती हैं—

तमोभूतं विश्वं किमपि गहनं धाम तदभू-
दथ स्वेच्छाशक्तिप्रकटितमहावैभवभरम्।
विभज्यात्मानं क्ष्मावनपवनवह्नीन्दुतपन-
स्वकैरंशैरीश त्रिजगदसृजत्कस्त्वदपरः।।[2]

कवि ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि में परमशिव के शिव और शक्ति के अभेद प्रतिपादन स्वरूप एक स्तोत्र की ही रचना कर दी है। पूरे अर्द्धनारीश्वर स्तोत्र में शिव के प्रकाश-विमर्श रूप की व्याख्या है। कवि शिव और शिवा के ऐकात्म्य का प्रतिपादन करता हुआ कहता है—

किमयं शिवः किमु शिवाऽथ शिवा-
विति यत्र वंदनविधौ भवति।
अविभाव्यमेव वचनं विदुषा-
मविभाव्यमेव वचनं विदुषाम्।।[3]

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/8
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 35/9
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 21/18, 19

जीव के स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान में अनुग्रह की महिमा का उल्लेख किया गया है। स्वच्छन्दशास्त्र में कहा है, "जैसे एक कोशकार कीट अपने आपको आवेष्टित कर लेता है किन्तु पुनः अपने को उस जाल से मुक्त करने में असमर्थ हो जाता, उसी प्रकार संसारी प्राणी निज-निर्मित मिथ्या मायाजाल में अपने को बाँध लेता है और कोशकार कीट की भाँति अपने ही जीवन पर अपनी अनुग्रह शक्ति का पात करता है और शिव के इस अनुग्रह से जीवात्मा पाशबन्ध से मुक्त होकर अपने निर्दोष स्वरूप को पहचान लेता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि शक्तिपात ईश्वर के अनुग्रह की पारिभाषिक संज्ञा है—

कोशकारो यथा कीटः आत्मानं वेष्टयेद् दृढम्।
न चोद्वेष्टयितुं शक्त आत्मानं स पुनर्यथा।।
तथा संसारिणः सर्वे बद्धाः स्वैरेव बन्धनैः।
न च मोचयितुं शक्ताः पशवः पाशबन्धनाः।।
स्वयमेव स्वमात्मानं यावद् नैवेक्षते शिवः।।[1]

उपर्युक्त मान्यता के अनुसार ही श्रीजगद्धरभट्ट परमशिव के अनुग्रह का वर्णन करते हुए कहते हैं—

भङ्क्तुं न पारयति यः क्वचिदेव देव।
कामं कृपामृतमृदुस्तव दृष्टिपातः।
उद्दामरोषपरुषः किल कामभङ्ग-
मङ्गीचकार कथमेव महेशपूर्वम्।।[2]

सर्वव्यापक परमशिव विविधता का प्रदर्शन मन्त्रत्रय द्वारा करता रहता है। यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा है, 'स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः'[3] विविध रसों को धारण करने वाले शिव के अपने मूल स्वभाव को वास्तविकरूपेण बोध का नहीं होना ही अज्ञान का कारण है और अज्ञान को ही शैवदर्शन में 'मल' इस पारिभाषिक शब्द से कहा जाता है— 'अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं तत् स्मृतम्'[4] यह आणव, कार्मल और मायीय भेद से तीन प्रकार का होता है।

आणव

परमेश्वर अपनी प्रकाशरूपता को छोड़ कर कभी शून्य, कभी बुद्धि को ही अहम् समझ लेता है तथा अपने असीमित स्वरूप को भूल जाता है, यह आणव मल है।[5]

कार्मल

जीव जो भी कर्म करता है वह सब परम शिव की प्रेरणा का प्रतिफल है। सम्पूर्ण क्रियाएँ शिव द्वारा ही निष्पन्न होती हैं। संकोचन के विकास के कारण जीव को उन विशेष

---

1. स्वच्छन्दतन्त्र, भाग-5, पटल 10
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 12/28, 3/43, 8/19, 15/39
3. तन्त्रालोक, टीका, भाग-8, पृ. 69-70
4. तन्त्रसार, भाग-1, पृ. 51
5. काश्मीर शैवदर्शन, पृ. 132

कर्मों के प्रति अपनी कर्तृता का अभिमान हुआ करता है। ऐसा मानने पर उन कर्मों के जो संस्कार होते, उनका वही पात्र बन जाता है।

जीव कर्तृत्व के मिथ्याभिमान से कर्मों के फल का पात्र बना रहता है और उन कर्मों की वासना उसे नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेने को प्रेरित करती हुई जगत् के जाल में फंसाये रखती है। यह संकुचित कर्तापन का अभिमान और कर्मवासना जीव का कर्म मल है, जिसे शैव दर्शन में कार्मल मल कहा गया है—

देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम्।
तथापि कार्मलमेकं मुख्यं संसारकारणम्।।[1]

मायीय

प्रमाता अपने वास्तविक विलास की लीला के कारण जगत् को ईश्वर को तथा अन्य जीव को भिन्न समझता है। प्रमाता के इस भेदमय दृष्टिकोण को मायीय कहा जाता है, 'भिन्नभेदप्रथात्रैव मायाख्यम्'।[2] शैवदर्शन में माया को मायीय मल कहा जाता है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के एक पद्य में इन त्रिविध मलों का उल्लेख किया गया है—

यः क्षीरनीरनिधिमङ्घ्रितले सुधाम्भः-
कुम्भं करे शिरसि देवनदी मदीनाम्
हर्तुं बिभर्ति भविनामणु कर्ममाया-
मूलं मलत्रयमयं तमहं श्रयामि।।[3]

ग्रन्थ के प्रथमस्तोत्र में महाकवि अक्षर ब्रह्म से अभिन्न सदाशिव की स्तुति करता हुआ कहता है कि जो ईश तत्त्व प्रणव रूप से हृदाकाश में विराजमान रहता है, उस तत्त्व की उपासना करते हैं—

ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं,
गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं
तत्सदक्षरमुपास्महे महः।।[4]

कवि ने इस पद्य में तत् सत् परब्रह्म के इन तीनों नामों के निर्देश से अपने उपास्य देव को शुद्ध सच्चित् आनन्द स्वरूप निर्विशेष पूर्ण परब्रह्म से अभिन्न सूचित किया है।

एक स्थल पर कवि शिव सायुज्य को ही मुक्ति मानता हुआ कहता है कि हे प्रभो! भक्ति सिद्धान्त के मर्म को जानने वाले रसिक लोग निर्भय होकर जन्म-मरणादि दुःख परम्परा का मूलोच्छेदन करने वाली समाधि में आश्रित होकर एकमात्र आपका ही ध्यान करते हैं—

इदं विदन्तः सुधियो भियोज्झिताः,
समाधिमाधिच्छिमाश्रिता अपि।

---

1. तन्त्रालोक, भाग-5, पृ. 56
2. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 2/2/5
3. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 8/36
4. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 1/6

प्रभुप्रणामस्तुतिचिन्तनार्चन-
स्फुटो पयोगं बहु मन्यते वपुः।।[1]

आशय यह है कि ज्ञातत्वोपलक्षित अनावृत शिव तत्त्व ही कैवल्य है। अतः उसका अनादर करना अपने शिव का ही अनादर है। इसीलिए यहाँ मुक्ति पद से सालोक्य सामीप्यादि रूप मुक्ति विवक्षित है। अर्थात् साध्य की अपेक्षा साधन में ही अभिज्ञ जनों का अधिक आदर होता है। क्योंकि साधन के होने से साध्य स्वयं प्राप्त हो जाता है। अतः शैवदर्शन में भक्ति को विदेह मुक्ति से अधिक महत्त्व देते हैं। शैव लोग मुक्ति को भगवद् भक्ति में विघ्न मानते हैं—

मुक्तिर्हि नाम परमः पुरुषार्थ एक-
स्तामन्तरायमवयन्ति यदन्तरज्ञाः।।[2]

इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी शैव दर्शन के सिद्धान्त मिलते हैं।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शैवदर्शन का पूर्णरूपेण प्रवाह है। काश्मीर शैवदर्शन का एकमात्र प्रतिपाद्य तत्त्व शिव है। वह प्रमाता प्रमेय दोनों है। यह सच्चिदानन्द–स्वरूप है।

सद्रूपता

समस्त पदार्थों में विद्यमान आत्मा ही शिव है। परमार्थतः बाह्य जगत् में ग्राह्य और ग्राहकादि भेद नहीं माना जाता। अनन्त–वैचित्र्य रूप से ही वही एक तत्त्व स्फुरित होता रहता है।

चिद्रूपता

शिव चिद्रूप है। इसका कोई भी नाम एवं रूप नहीं, क्योंकि चैतन्य नीरूप होता है। चेतना के विना अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं, इसीलिए शैव और वेदान्ती दोनों ही सत्ता और चेतना को एक दूसरे से द्रव्य गुण की तरह सम्बन्धित नहीं मानते। उनके अनुसार सत्ता और चेतना मूलतः तदनुरूप हैं।

आनन्दरूपता

चित्त असीम है। परम तत्त्व के सत् चित् में निहित शक्ति स्वतन्त्र है। जो स्वयं असीम है। आनन्द परमशिव का मूल स्वरूप है। वेदान्त में आनन्दस्वरूप ही परम तत्त्व है जबकि शैव आनन्द की कोई चेतना सत्ता नहीं होती, ऐसा मानते हैं।

इस प्रकार परम शिव को सच्चिदानन्द माना गया है। इसके अनुभव मात्र से अनुभविता शिव हो जाता है। इस प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि में सम्पूर्ण वैदिक दर्शनों का संक्षिप्त रूपेण विवेचन प्रस्तुत कर इसके शैव दार्शनिक सिद्धान्त को विशेष रूपेण व्याख्यायित किया गया है।

❑

---

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 7/9
2. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 13/5

उपसंहृति

निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि स्तुतिकुसुमाञ्जलि के रचयिता श्रीजगद्धरभट्ट चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपने जन्म से कश्मीर की कवि प्रसविनी भूमि की मर्यादा को और ऊंचा आदर्श दिये। अपनी कृति स्तुतिकुसुमाञ्जलि में यद्यपि इन्होंने शिव की भक्ति का गीत गाया है, किन्तु अपनी काव्य निर्माण पटुता एवं बीच-बीच में कवि-काव्य के दायित्वों का सूत्रात्मक निर्देश भी किया है, जिससे काव्य के लिए निर्दोष, गुण-रीति, अलङ्कार, रस, कथावस्तु एवं छन्दों के सुष्ठु प्रयोग से परिलसित वाक्य समूह की अपेक्षा है, ऐसा प्रतिध्वनित हुआ है। काव्य के दृष्टादृष्ट सभी प्रकार के प्रयोजनों की सफलता के साथ-साथ इनके भक्ति काव्य का मुख्य उद्देश्य सद्यः परनिवृत्ति रूप आराध्य की कृपा प्राप्ति है। यह कृपा तभी हो सकती है जब कवि की अन्तःचेतना उसकी काव्य निर्माण पटु प्रतिभा से एकीकृत होकर शुद्ध रूपेण काव्य की सर्जना कर सके। इन्होंने स्तुतिकुसुमाञ्जलि इस नाम के अनुरूप ही अड़तीस स्तोत्रों का मनोवैज्ञानिक उपनिवेश किया है, जो क्रमशः भक्त के हृदय में भक्ति की पीयूष धारा को गम्भीर ही करते जा रहे हैं।

स्तोत्र की परम्परा वैदिक युग से ही प्रचलित है, जिसे भक्त कवियों ने उसे अलग से स्तोत्र-साहित्य के रूप में परिवर्तित एवं परिबृंहित किया। हमारे स्तुतिकार श्रीजगद्धरभट्ट ने वैदिक साहित्य, पुराण साहित्य एवं अपने पूर्व विरचित कई प्रमुख स्तोत्रों के परिप्रेक्ष्य में स्तुति काव्य का सुगठित एवं सुव्यवस्थित काव्य रूप दिया, जिससे परवर्ती स्तोत्र-साहित्य पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ। बीच-बीच में पौराणिक कथाओं का उपनिबन्धन कर विद्वान् कवि ने अपने स्तुति काव्य को गरिमा प्रदान की है।

शिव देवाधिदेव महादेव हैं। इनकी आराधना दैत्य-देव एवं मनुज सभी समान रूप से करते आये हैं। वैदिक युग में रुद्र के रूप में प्रतिष्ठित देवता पौराणिक युग में शिव के रूप में सुप्रसिद्ध हुए। सम्पूर्ण भारत में उनके विविध रूपों एवं द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों की समर्चा होने लगी और उसके अनुरूप ही इनके विविध रूपों को आधार मानकर भक्त कवियों की काव्य सर्जना भी। स्तुतिकार ने इस स्तोत्र-काव्य में उनका मौलिक सदाशिव रूप प्रस्तुत किया और इन्हें महामाहेश्वर तथा पूर्ण ब्रह्म के रूप में स्वीकार कर जगन्निर्माण, पालन और संहार का एकमात्र कारण माना है। बीच-बीच में इनके अर्द्धनारीश्वर हरिहर, भैरव एवं अष्टमूर्तियों

आदि विशिष्ट रूपों का बहुत विशद रूप से चित्रण कर उसे शिव का लीला विक्षेप माना है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि भक्ति काव्य है। इस सम्बन्ध में इन्हें सेव्य-सेवक भाव अत्यन्त प्रिय है। इन्होंने नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र एवं श्रीमद्भागवत आदि में वर्णित भक्ति के रूप को सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया है। यद्यपि उन्होंने भक्ति एवं उसके भेदों का स्वरूपात्मक विश्लेषण नहीं किया है फिर भी अपने काव्य में शिव के सगुणात्मक एवं निर्गुणात्मक रूपों का विवेचन किया है और निर्गुण की अपेक्षा सगुण रूप की विशेष उपयोगिता एवं प्रभु प्रसादन में सरलता का साधन मानकर सगुण भक्ति को प्रथम स्थान देने का स्तुत्य प्रयास किया है। सर्वप्रथम भक्ति के गौणी भेद एवं नवधा भक्ति का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर साधक को साधन सम्पन्न होने की ओर इङ्गित किया है और अन्त में निर्गुण रूप को दार्शनिक विधि से प्रतिष्ठित कर उसकी आराधना पराभक्ति रूप माना है। श्रीजगद्धरभट्ट के भक्ति सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन्होंने भक्तों के लिए साधक और सिद्ध का क्रम रखा है। साधानावस्था भक्त की पहली अवस्था है उसमें सगुण भक्ति की ही अपेक्षा है। श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनपूर्वक भक्त जब सगुण प्रभु के गुणों से पूर्ण परिचित हो जाता है तब उसकी अन्तःचेतना में प्रभु के नाम, गुण एवं कर्मों का निरन्तर जप होने लगता है और भक्त सांसारिक विषय-वासनाओं से ऊपर आराध्य के श्रीचरणों में आत्मसमर्पण कर देता है, **तेरा तुझको सौंप दिया क्या लागै है मोर।** जो समर्पण नाम, रूप एवं कर्म से विहीन निरूपाधिक निर्गुण ईश्वर की ओर अग्रसर करता है। जहाँ जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिटकर अद्वैत हो जाता है, यही पराभक्ति है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कवि ने आराध्य के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों की सत्ता स्वीकार की है, किन्तु सगुण की उपादेयता प्रथम और अनिवार्य मानी है। निर्गुण आराधना का मार्ग कठिन एवं अन्तिम सीमा होने से उसे सगुणोपासना के बाद स्वीकार किया है। इस प्रकार सगुणोपासना को भी निर्गुणोपासना के साधन के रूप में ही माना है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कवि की भाषा इतनी सशक्त एवं सुव्यवस्थित है, जिससे इनके वैयाकरणबोध में अन्यत्र पर्यवेक्षण की आवश्यकता नहीं। भाषा के वैदिक और लौकिक दोनों शब्दों का प्रयोग इनके वैदिक ज्ञान को उद्भासित करता है। काव्य रचना में कारकों का सफल प्रयोग, समास की अतिलघु एवं अतिविस्तृत शैली, मनोभिलषित भाव के अनुरूप धातुओं का प्रयोग, रसानुरूप कोमल एवं कर्कश शब्दों की निर्माण योजना इनके शाब्दिक पाण्डित्य की कसौटी है। इनके काव्य में जहाँ रसानुकूल शब्दों के प्रयोग बन पड़े हैं, वहीं पद्यों में विविध छन्दों का आगमन रमणीयता का कारण है। छन्दः शास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से भी इनकी महिमा अस्वीकार नहीं की जा सकती। इन्होंने लगभग तीस छन्दों का प्रयोग किया है जो विविध प्रकार के रसों और भावों की अभिव्यक्ति कराने में उपयुक्त हैं।

साहित्यिक पक्ष की दृष्टि से श्रीजगद्धरभट्ट की लेखनी सफलता की पराकाष्ठा पर विद्यमान है। कवि ने अपने काव्य में अपने काव्य-लक्षण निर्देश के अनुरूप गुण-रीति, अलङ्कार एवं रस और ध्वनि का पर्याप्त विश्लेषण किया है। शृङ्गार, करुण आदि रसों के लिए माधुर्य गुण एवं वैदर्भी रीति का प्रयोग, जहाँ शिव के रुद्र रूप या वीर रूप का वर्णन है

वहाँ ओजस् गुण और गौडी रीति का आधार लेकर रचना को सुसज्जित किया है। वैसे ही भक्ति विषयक प्रवाह मे कवि जब बह उठता है तो उसकी स्वाभाविक भारती अनायास थिरकन करने लगती है। जहाँ प्रसाद गुण और पांचाली रीतियों का अनायास सद्भाव हो पाया है। अलङ्कारों के सम्बन्ध में कवि ने शब्दालङ्कारों को विशेष महत्त्व दिया है, जो एक उत्तम काव्य के लिए ग्राह्य नहीं है। यद्यपि श्रीजगद्धरभट्ट ने तत्कालिक कवियों की परम्परा में बंध कर शब्दालङ्कार समन्वित शैली का आश्रय लिया है, किन्तु एक सफल कवि के लिए परम्परा की परिधि में घिर कर काव्य की गरिमा में हल्कापन लाना उचित नहीं है। अर्थालङ्कारों के प्रयोग में कवि सफल तो हैं, पर शब्दालङ्कारों का प्रभाव इतना अधिक है कि वह गौण हो जाता है।

रस के सम्बन्ध में श्रीजगद्धरभट्ट विषयक धारणा को लेकर यह कहा जा सकता है कि इन्होंने रसवादी आचार्यों द्वारा स्वीकृत शृङ्गार, हास्य, करुण आदि रसों का आदर किया है तथा जिस भक्ति रस को आचार्यों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा उसे इन्होंने पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप देकर उसमें जीवन ला दिया है। रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी आदि भक्ति के आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित भक्तिरस को इन्होंने रसराज कहा एवं माधुर्य भक्ति, वीर भक्ति, वात्सल्य भक्ति आदि इसके भेदों के रूप में उपर्युक्त सभी रसों को इस भक्तिरस का अंग माना है। भक्तिरस के विविध पक्षों का विस्तृत विवेचन कर इन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। ध्वनि की दृष्टि से यह स्तुति काव्य अपनी मौलिक विशेषता से सम्पन्न है। वस्तु ध्वनि, रस ध्वनि एवं अलङ्कार ध्वनि—इन सभी ध्वनि भेदों का इसमें पूर्ण परिपाक हुआ है।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि के दार्शनिक पक्ष के विवेचन से ज्ञात होता है कि श्रीजगद्धरभट्ट न तो किसी दार्शनिक सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध थे और न तो किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रतिष्ठापक आचार्य ही। इनको केवल इसलिए दार्शनिक कहा जा सकता है कि इन्होंने सभी दर्शनों के मूल तत्त्व की गहराई का दर्शन किया था, जिसका अपने स्तुति काव्य में शिव की महिमा वर्णन के माध्यम से प्रस्तुत किया है। स्तुतिकुसुमाञ्जलि में किसी भी दर्शन के पूर्ण सिद्धान्त का विवेचन नहीं है बल्कि प्रसङ्गवश तत्तत् सिद्धान्तों की ओर संकेत है। इन्होंने अपनी कृति में न्यायवैशेषिक, साङ्ख्ययोग, मीमांसा, वेदान्त, तन्त्र एवं आगम आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का यत्र-तत्र निर्देश किया है। इनकी दार्शनिक दृष्टि में सब कुछ शिवमय है, इन्होंने शिवाद्वैतवाद को मान्यता दी है। यद्यपि शिवाद्वैतवाद का विवेचन काश्मीर दर्शन एवं पुराणों में विस्तृत रूप से है, किन्तु इन्होंने अपनी कृति में सर्वं शिवमयम् मानकर पूर्णरूपेण अध्यात्मवाद के विशिष्ट रूप शिवाद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा की है। इनकी दृष्टि में वेदान्त प्रतिपादक ब्रह्म ही शिव है जो जगत् का कारण है, पोषक है, संहारक है। अर्द्धनारीश्वर रूप की परिकल्पना शैव दर्शन के प्रकाश एवं विमर्श की अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार स्तुतिकुसुमाञ्जलि में इन्होंने शिव की विविध लीलाओं एवं रूपों का विवेचन कर श्रीसदाशिव की पूर्ण व्यापकता को विवेचित किया है। सम्पूर्ण स्तुतिकुसुमाञ्जलि में उनकी ही महिमा, कहीं सगुणात्मक रूप को और कहीं निर्गुणात्मक रूप को लेकर

व्याख्यायित की गई है। भक्तिरस पूर्ण इस स्तोत्र-काव्य की रचना कर कवि ने समाज का परमोद्धार किया है। इन्होंने अवदान के रूप में समाज के समक्ष यह प्रस्तुत किया है कि शिव ही सर्वस्व है, ब्रह्मा विष्णु आदि जितने भी देव हैं, वे शिव की ही लीला या लोकोपकारिका माया शक्ति के विक्षेप हैं। इन्होंने शिव में भक्ति करने वालों पर ही शिव का अनुग्रह होता है और शिव के अनुग्रह से ही शिव में भक्ति करने की प्रवृत्ति होती है, कहकर भावुक भक्तों को शिव भक्ति की ओर प्रेरित किया है। यद्यपि मुक्ति परम पुरुषार्थ है फिर भी सगुण भक्ति में बाधक है, इन बातों को व्यक्त कर भक्ति को प्रधान बतलाया है और समाज को संदिष्ट किया है शिव भक्ति में लीन होकर शिवत्व की भावना से अनुप्राणित होने के लिए। श्रीजगद्धरभट्ट ने स्तुति काव्य के माध्यम से जिस अमर संदेश को वाणी दी है वह सर्वथा स्तुत्य है और इनका कालजयी स्तोत्र-काव्य सर्वजन नमस्य है।

जैसे मधुरता का आगार ईख भी अधिक चबाने से कटु हो जाती है, उसी प्रकार श्रीसदाशिव के कीर्तन रूप यह स्तुतिकुसुमाञ्जलि का आलोचनात्मक अध्ययन शोध प्रबन्ध अधिक विस्तृत होने से अरुचि न पैदा करे, इस भय से त्वदीयं वस्तुगोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये! की भावना से प्रभु के ही कल्याणकारी श्रीचरणों में समर्पित करता हुआ कवि की इन पंक्तियों का स्मरण करता हूँ—

धत्ते पौण्ड्रकशर्करापि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता,
वैरस्यं वरनायिकापि कुरुते सक्त्याभृशं सेविता।
उद्वेगं गगनापगापि जनयत्यन्तर्मुहुर्मज्जना-
द्विश्रद्धां मधुरापि पुष्यति कथा दीर्घेति विश्रम्यते।।[1]

□

1. स्तुतिकुसुमाञ्जलि, 11/42

सहायक ग्रन्थ-सूची

अमरकोष	: चौखम्बाविद्याभवन, सं. 2022
स्तुतिकुसुमाञ्जलि	: सं. गोविन्दवल्लभ पन्त 'अच्युत', ग्रन्थ माला कार्यालय वाराणसी, सं. 2021
संस्कृतसाहित्य का इतिहास	: ले.आ. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बाविद्या भवन, 1960
विश्व संस्कृत शताब्दी ग्रन्थ	: डॉ. मण्डन मिश्र, जम्बू-कश्मीर भाग, दिल्ली से प्रकाशित, सं. 2022
वैदिक वाङ्मय का इतिहास	: पं. भगवद्दत्त प्रणवप्रकाश, दिल्ली, 1974
संस्कृतसाहित्य विमर्श	: पं. द्विजेन्द्रनाथ, भारती प्रतिष्ठानम् (मयराष्ट्र नगरम्), उ.प्र., सं. 2000
व्याकरणसाहित्य का इतिहास	: युधिष्ठिर मीमांसक
भारतीय साहित्य	: चौखम्बाविद्या भवन, वाराणसी
वैदिकवाङ्मय का इतिहास	: चौखम्बाविद्या भवन, वाराणसी
गीत गोविन्द	: निर्णयसागर प्रेस
हिन्दीसाहित्य पर संस्कृतसाहित्य का प्रभाव	: रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, 1952
सरस्वती पत्रिका, खण्ड-2	: नागरी प्रचारिणी 1926, भाग 26
स्तुतिकुसुमाञ्जलि, टीका	: रत्नकण्ठ
नाट्यशास्त्र	: निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गायकवाड़ संस्करण
काव्यालङ्कार	: निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गायकवाड़ संस्करण
काव्यादर्श	: निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, गायकवाड़ संस्करण

काव्यालङ्कारसूत्र	:	चौखम्बाविद्या भवन
ध्वन्यालोक	:	काव्यमाला
चन्द्रालोक	:	चौखम्बाविद्या भवन, 1971
रसगङ्गाधर	:	चौखम्बाविद्या भवन, 1971
साहित्यदर्पण	:	निर्णयसागर प्रेस, 1960
अष्टाध्यायी	:	चौखम्बाविद्या भवन
संस्कृतसाहित्य में जैन कवियों का योगदान	:	डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1971
शब्दवाचस्पत्यम्	:	चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1961
संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ	:	सं. द्वारिकाप्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, 1957
संस्कृतसाहित्य का इतिहास	:	डॉ. कीथ अनु. मंगलदेव शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1964
कुमारसम्भवम्	:	चौखम्बाविद्या भवन
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
नारदभक्तिसूत्र	:	गीताप्रेस, गोरखपुर, 2024
श्रीमद्भगवद्गीता	:	रामानुजभाष्य
प्रेमदर्शन	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्	:	उपनिषद् संग्रह
भक्तिरसामृत सिन्धु	:	मधुसूदन सरस्वती, डॉ. नगेन्द्र, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1963
नारदपाञ्चरात्र	:	जम्बू से प्रकाशित
तन्त्रालोक	:	अभिनवगुप्त, कश्मीर ग्रन्थमाला, श्रीनगर, 1958
निरुक्त	:	शिवनारायण शास्त्री, दिल्ली, 1972
स्वच्छन्दशास्त्र	:	संस्कृतविद्यापीठ, दिल्ली
रुद्राष्टाध्यायी	:	ठाकुरप्रसाद, वाराणसी
पाणिनीय शिक्षा	:	चौखम्बा प्रकाशन
ऋग्वेदभाष्यभूमिका	:	सायण सं. जगन्नाथ पाठक, चौखम्बाविद्या भवन, वाराणसी, 1962

छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर
काव्यालङ्कार : चौखम्बासंस्कृत सीरीज
पल्लव की भूमिका : सुमित्रानन्दन पन्त
वृत्तरत्नाकर : चौखम्बासंस्कृत सीरीज
छन्दोमंजरी : चौखम्बासंस्कृत सीरीज
सुवृत्ततिलक : क्षेमेन्द्र, पं. ब्रजमोहन झा, चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1968
कुवलयानन्द : अप्पयदीक्षित, चौखम्बाविद्या भवन, वाराणसी, 1956
वक्रोक्तिजीवितम् : कुन्तक आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सं. 2012
तैतरीयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर
दशरूपकम् : भोलाशंकर व्यास, चौखम्बाविद्या भवन
रघुवंश : चौखम्बासंस्कृत सीरीज
स्पन्दनिर्णय : पं. मुकुन्दरामशास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, काश्मीर भाग, श्रीनगर, 1917
शिवदृष्टि : सोमानन्द, कश्मीर, श्रीनगर, 1934
सर्वदर्शन संग्रह : उमाशंकर ऋषि, चौखम्बाविद्या भवन, वाराणसी, 1964
भारतीय दर्शन : उमेश मिश्र, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, 1970
शैवदर्शन और कामायनी : डॉ. शंकरलाल जोशी, चौखम्बासंस्कृत सीरीज, 1968
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, भाग-2 : कश्मीर ग्रन्थावली
तन्त्रालोक : अभिनवगुप्त, काश्मीर ग्रन्थावली, श्रीनगर, 1958
शिवसूत्रविमर्शिनी : क्षेमराजकृत, आर्केयोलॉजी एण्ड रिसर्च डिपार्टमेन्ट, श्रीनगर, 1962
कश्मीर शैवदर्शन : श्री बलजिन्नाथ केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्बू, 1973
मार्कण्डेय पुराण : गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भागवत मूल : गीताप्रेस, गोरखपुर

शिशुपाल वध : चौखम्बासंस्कृत सीरीज

ऋग्वेद : आचार्य विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब, 1965

अथर्ववेद : आचार्य विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब, 1965

यजुर्वेद : वासुदेव शर्मा सम्पादित पाण्डुरंग पर वजावजी, काशी सं. 2006

महाभारत : गीताप्रेस, गोरखपुर

रामायण : सं.पं. शिवराम शर्मा वासिष्ठ, चौखम्बाविद्या भवन, 1982

संस्कृतसाहित्य की प्रवृत्तियाँ :

साहित्य संदर्भ : सागर विश्वविद्यालय, सागर

काव्यमीमांसा : केदारनाथसारस्वत, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1954

शिवमहिम्नस्तोत्र : चौखम्बाविद्या भवन

चण्डीशतकम् : अज्ञात

सरस्वतीकण्ठाभरणम् : भोज, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1962

कादम्बरी : अज्ञात, प्राचीन संस्करण

शङ्कराचार्य : आ. बलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 1950

संस्कृतसाहित्य का नवीन इतिहास : कृष्ण त चैतन्य अनु. विनय कुमार राय, चौखम्बाविद्या भवन, वाराणसी, 1965

सौन्दर्यलहरी : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी

शिवस्तोत्रावली : उत्पलदेव, श्री लक्ष्मण, चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1964

कुन्दमालास्तोत्र : काव्यमाला

अलवन्दार स्तोत्र : काव्यमाला

कृष्णकर्णामृत स्तोत्र : चौखम्बासंस्कृत सीरीज

बृहत्स्तोत्र रत्नाकर : चौखम्बासंस्कृत सीरीज

वेदसार शिवस्तोत्र : डॉ. विश्वबन्धु, महेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर, 1970

शिवाष्टक	:	ठाकुर प्रसाद बुकसेलर
रामचरितमानस	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
विनयपत्रिका	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
मत्स्यपुराण	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
वायुपुराण	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
ब्रह्मवैवर्तपुराण	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
शिवपुराण	:	गीताप्रेस, गोरखपुर
परमार्थसार कारिका	:	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर
विज्ञानभैरव	:	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर
नेत्रतन्त्र	:	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह	:	स्वामी जी, पीताम्बरापीठ, दतिया, मध्यप्रदेश
प्रत्यभिज्ञाहृदय	:	क्षेमराज विशाल प्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
पञ्चदशी	:	पीताम्बरजी कृत हिन्दी टीका, चौखम्बासंस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1962

❑



उमाकान्त चतुर्वेदी

नाम : डॉ. उमाकान्त चतुर्वेदी

पिता : पं.श्री इन्द्रदेवचतुर्वेदी

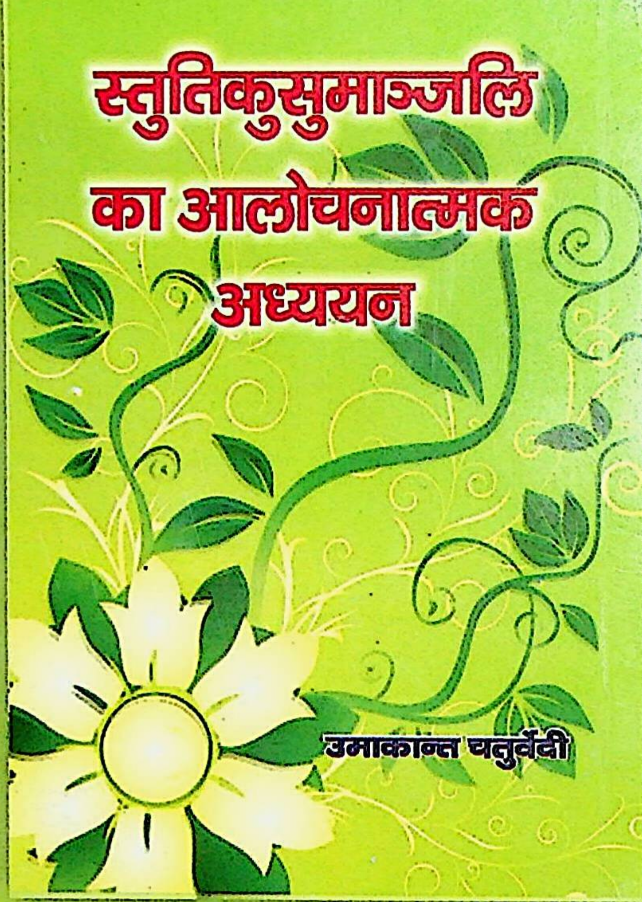
माता : श्रीमती लाखमुनी देवी

जन्मभूमि : बनौली, भभुआ, बिहार

जन्मतिथि : 03 नवम्बर 1960ई.।

माध्यमिकशिक्षा, श्री वजाङ्कवली संस्कृतोच्च विद्यालय, चेनारी, बिहार से एवं उच्चशिक्षा काशीहिन्दूविश्वविद्यालय से सम्पन्न हुयी। परीक्षायें-आचार्य, एम.ए., पी-एच.डी.। सभी परीक्षाओं में सर्वप्रथम एवं अनेक स्वर्णपदक प्राप्त, शास्त्रार्थ एवं भाषणप्रतियोगिताओं मे अनेक प्रथम-पुरस्कार।

कार्यक्षेत्र : शोधसहायक (अप्रैल 1990 से जुलाई 1992 तक) पुराणप्रकाशन विभाग, अखिलभारतीय काशिराजव्यास, रामनगर वाराणासी। व्याख्याता-व्याकरण, (अगस्त 1992 से जून 2005 तक) सं.सं.वि.वि.से सम्बद्ध 'क' वर्गीय, श्रीभुभुक्षभवन-वेदवेदाङ्गमहा-विद्यालय, अस्सी, वराणसी। व्याख्याता : साहित्य (जून 2005 से...) राष्ट्रिय संस्कृतसंस्थान, जयपुर परिसर, जयपुर।



राष्ट्रीय संस्कृत साहित्य केन्द्र
222, सरस्वती सदन
बिहारी जी की गली, साँखियों का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर–302001 (राज.)

ISBN : 978-81-88741-26-7
Rs. : 300.00
Cover Designe : Computer Craft, Jpr.